२७५

चिन्तामणि

[आलोचनात्मक निबन्ध]

दूसरा भाग

लेखक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्राध्यापक काशी विश्वविद्यालय

प्रकाशक

सरस्वती-मंदिर

जतनबर, काशी
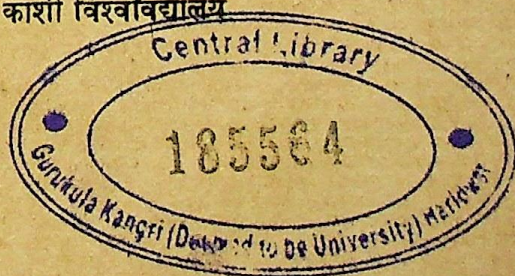
प्रकाशक : सरस्वती-मंदिर, जतनबर, काशी ।
मुद्रक : अच्युत मुद्रणालय, ललिताघाट, काशी ।
मूल्य : ३)
संवत् : २००६ वि०
आवृत्ति : द्वितीय
प्रतियाँ : २०००

दो बोल

(प्रथमावृत्ति)

आचार्य शुक्ल के निबंधों का संग्रह पहले 'विचार-वीथी' नाम से निकला था, पीछे वही परिवृद्ध तथा परिष्कृत होकर 'चिंतामणि' (पहला भाग) के रूप में प्रकाशित हुआ। 'चिंतामणि' में उनके छोटे-बड़े समस्त निबंधों का संकलन होनेवाला था। दूसरे भाग के लिए तीन बड़े बड़े निबंध छाँटे गए थे; पहला 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' जो बहुत दिन हुए 'माधुरी' में मुद्रित हुआ था, दूसरा 'काव्य में रहस्यवाद' जिसे स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने अपने साहित्यभूषण कार्यालय से पुस्तकाकार छपाया था, तीसरा वह भाषण जो उन्होंने चौबीसवें हिंदी-साहित्य-संमेलन की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से इंदौर में किया था। यद्यपि यह तीसरा भाषण है तथापि इसे भाषण का रूप कुछ वाक्यों ने आदि, मध्य और अंत में जुड़कर दिया है। यदि यह वाक्यावली हटा ली जाय तो यह वर्तमान हिंदी-साहित्य का सिंहावलोकन करनेवाला निबंध ही दिखाई देगा। वस्तुतः साहित्य की अन्य शाखाओं का अवलोकन तो इसमें नाममात्र को है, कविता और काव्यक्षेत्र में फैले अभिव्यंजनावाद की विस्तृत मीमांसा ही प्रमुख है। अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के नियम से मैंने इस कृति का नाम 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' धर देने की ढिठाई की है और भाषण-बोधिनी पदावली छोटे अक्षरों तथा छोटे कोष्ठकों '( )' में बंद कर दी है। जो अंश पाद-टिप्पणी में बड़े कोष्ठकों '[ ]' से घिरा है वह मेरी 'करनी' है।

यह 'राम'-चरित चारु 'चिंतामणि' परप्रत्यय का नेतृत्व सकारनेवाले महाजनों को कभी कभी विदेशी और 'हमारे यहाँ सब कुछ है' की प्रवृत्तिवाले

पंडित-पुंगवों को कहीं कहीं आलोकहीन प्रतीत हुआ है। है भी तो यह 'संत'-सुमति-तिय का ही सुभग शृंगार! यद्यपि शुक्लजी की 'परख' और स्वदेशी-विदेशीपन के संग्रह-त्याग का मूलाधार दर्शानेवाला 'मणिकोश' विपुलांश में प्रस्तुत हो चुका है तथापि पठनार्थी सज्जनों के अधैर्य और प्रकाशक के अस्थैर्य की उपेक्षा करानेवाले दिन अभी एक-दो नहीं कई थे। इसलिए संप्रति इसी रूप में इसे प्रकाशित कर देने की अपेक्षा समझी गई।

विजयादशमी, २००२
ब्रह्मनाल, काशी।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

(द्वितीयावृत्ति)

'चिंतामणि' के दूसरे भाग की द्वितीयावृत्ति प्रायः ज्यों की त्यों छापी गई है। बर्तनी या वर्ण-विन्यास की एकरूपता के लिए यथास्थान आवश्यक परिवर्तन कर दिए गए हैं। बर्तनी की एकरूपता आचार्य-प्रवर की शैली के अनुसार है। इस आवृत्ति में नामानुक्रमणी और जोड़ दी गई है। शुक्लजी की विचारसरणि और लेखन-प्रणाली के संबंध में भूमिका या प्रस्तावना अथवा मणि-'कोश' जोड़ने के स्थान पर मैं समुचित समझता हूँ कि उनके कर्तृत्व पर एक परिपूर्ण ग्रंथ ही प्रस्तुत कर दिया जाय। इसी से कुछ दिनों तक 'दो बोल' से ही पाठक संतोष करें।

विजयादशमी, २००६
ब्रह्मनाल, काशी।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

क्रम

चिन्तामणि

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जन्म सं० १९४१]

[निधन सं० १९९७

चिन्तामणि

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

'दृश्य' शब्द के अन्तर्गत केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों (जैसे शब्द, गन्ध, रस) का भी ग्रहण समझना चाहिए। "महकती हुई मंजरियों से लदी और वायु के झकोरों से हिलती हुई आम की डाली पर काली कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है" इस वाक्य में यद्यपि रूप, शब्द और गन्ध तीनों का विवरण है, पर इसे एक 'दृश्य' ही कहेंगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का ही सबसे अधिक आनयन होता है, और सब विषय गौण रूप से आते हैं। बाह्य करणों के सब विषय अन्तःकरण में 'चित्र' रूप से प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिम्ब को हम 'दृश्य' कहते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिम्ब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है। पर 'अभिधा' द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता। हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेत-ग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा ये चार विषय बताए, पर स्वयं संकेत-ग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिम्ब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पंखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्तःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थमात्र समझ कर काम चलाया जाय। व्यवहार में तथा शास्त्रों में इसी दूसरे प्रकार के संकेत-ग्रह से काम चलता है। वहाँ एक एक पद के वाच्यार्थ के रूप पर अड़ते चलने

की फ़ुरसत नहीं रहती। पर काव्य के दृश्य-चित्रण में संकेत-ग्रह पहले प्रकार का होता है। उसमें कवि का लक्ष्य 'बिम्ब-ग्रहण' कराने का रहता है, केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आस-पास की परिस्थिति का ब्योरा जितना स्पष्ट या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिम्ब-ग्रहण होगा, और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।

'बिम्ब-ग्रहण' कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी; पर जब कि रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है। रस का आधार खड़ा करनेवाला जो विभावन व्यापार है वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किन्तु वहाँ उसे यों ही उड़ान भरना नहीं होता; उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है। उसे ऐसे स्वरूप खड़े करने पड़ते हैं जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेंगे। अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण मनुष्यमात्र की अनुभूति तथा उसके विषयों को अपने हृदय में रखनेवाले ही ऐसे स्वरूपों को अपने मन में ला सकते हैं, और कवि कहे जाने के अधिकारी बन सकते हैं।

विभाव के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं—

(१) आलम्बन (भाव का विषय)

(२) आश्रय (भाव का अनुभव करनेवाला)

इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किन्तु दूसरा हृदय-सम्पन्न मनुष्य ही होता है। प्राचीन कविगण इन दोनों का स्वरूप प्रतिष्ठित

करने में—इनका बिम्ब-ग्रहण कराने में—कल्पना का पूरा-पूरा उपयोग करते थे। वाल्मीकीय रामायण को मैं आर्य-काव्य का आदर्श मानता हूँ। इसमें राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दंडकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्योरे के साथ सामने आता है। इन स्थलों के वर्णन में हमें हाट, बाट, नदी, निर्झर, ग्राम, जनपद इत्यादि न जाने कितने पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण मिलता है।

साहित्य के आचार्यों की दृष्टि में वन, उपवन, ऋतु, आदि शृंगार के 'उद्दीपन' मात्र हैं; वे केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिए हैं। जब यही बात है तब फिर इनका संश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को 'बिम्ब-ग्रहण' कराने से क्या प्रयोजन? उनके नाम गिनाकर अर्थ-ग्रहण करा दिया; बस, हो गया। पर सोचने की बात है कि क्या प्राचीन कवियों ने इनका वर्णन इसी रूप में किया है? क्या विश्वहृदय वाल्मीकि ने वनों और नदियों आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव के आरम्भ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है वह केवल शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नहीं। ये वर्णन पहले तो प्रसंग-प्राप्त हैं अर्थात् आलम्बन की परि-स्थिति को अंकित करनेवाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलम्बन शून्य में खड़े मालूम होते हैं। इस पर यों ग़ौर कीजिए। राम और लक्ष्मण के दो चित्र आपके सामने हैं। एक में केवल दो मूर्त्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और दूसरे में पयस्विनी के द्रुम-लताच्छा-दित तट पर पर्ण-कुटी के सामने दोनों भाई बैठे हैं। इनमें से दूसरा चित्र परिस्थिति को लिए हुए है, इससे उसमें हमारे भावों के लिए अधिक विस्तृत आलम्बन है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलम्बन है, अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलम्बन है। उसी परिस्थिति में—उसी संसार में—उन्हीं दृश्यों के बीच जिनमें हम रहते हैं, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध का अधिक अनु-भव करते हैं, जिससे 'साधारणीकरण' पूरा पूरा होता है।

पर प्राकृतिक वर्णन केवल अंग-रूप से ही हमारे भावों के आलम्बन नहीं हैं, स्वतन्त्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्यजाति का अधिकांश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम-भाव पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है और संस्कार-सापेक्ष है। मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत से ऐसे साधु देखे हैं जो लहराते हुए हरे-भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख मुग्ध हो गए हैं। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नीलवर्ण कर देते हैं तब नाचते हुए नीलकंठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे दृश्यों को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रति-भाव वर्त्तमान है, और वह रति-भाव उन दृश्यों के प्रति है।

रीति-ग्रन्थों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में से कुछ तो 'उद्दीपन' में डाल दिए गए और कुछ 'भाव-क्षेत्र' से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हाँक दिए गए। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया; जैसे, लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटककर झपटना, हाथी का गंडस्थल रगड़ना इत्यादि। पर मैं इन्हें प्रस्तुत विषय मानता हूँ; जिन पर अप्रस्तुत विषयों का उत्प्रेक्षा आदि द्वारा आरोप हो सकता है। वात्सल्य रति-भाव के प्रदर्शन में यदि बच्चे की क्रीड़ा का

वर्णन हो तो क्या वह अलंकार-मात्र होगा ? प्रस्तुत वर्ण्य विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता। वह स्वयं रस के संयोजकों में से है; उसकी शोभा-मात्र बढ़ानेवाला नहीं। मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली-मात्र मानता हूँ; जिसके अन्तर्गत करके किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं। इस दृष्टि से कई अलंकार ऐसे हैं जिन्हें अलंकार न कहना चाहिए; जैसे स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति से भिन्न अत्युक्ति, उदात्त इत्यादि। सारांश यह कि 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं है और इसी से उसका ठीक ठीक लक्षण भी नहीं स्थिर हो सका है। कुछ लोग 'अलंकार' का बहुत व्यापक अर्थ लेने लगे हैं। इन सब बातों का विस्तृत विवेचन फिर कभी किया जायगा।

मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेकरूपात्मक क्षेत्र मिला है उसी प्रकार 'भावों' (मन के वेगों) की व्याप्ति के लिए भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा तो उसका आनन्द पशुओं के आनन्द से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु-पक्षी, खेत-बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम से कम वासना के रूप में अन्तःकरण में निहित है।

पर प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—(१) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा और (२) साहचर्य द्वारा। सुन्दर रूप के आधार पर जो प्रेम-भाव या लोभ (मेरे मानस-कोश में दोनों का अर्थ प्रायः एक ही निकलता है) प्रतिष्ठित होता है उसका हेतु संलक्ष्य होता है; और जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है। यदि हम किसी किसान को उसकी झोपड़ी से हटाकर किसी दूर देश में ले जाकर राजभवन में टिका दें तो वह उस झोपड़ी का, उसके छप्पर पर चढ़ी हुई कुम्हड़े की बेल का, सामने के नीम के पेड़ का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके

आँसू बहावेगा। वह यह कभी नहीं समझता कि मेरा झोपड़ा इस राजभवन से सुन्दर था; परन्तु फिर भी झोपड़े का प्रेम उसके हृदय में बना हुआ है। यह प्रेम रूप-सौन्दर्यगत नहीं है; सच्चा स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौन्दर्यगत प्रेम नहीं पहुँच सकता।

इससे यह स्पष्ट है कि अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं और अपना प्रेमानन्द केवल इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि "अहा हा! कैसे लाल-पीले और सुन्दर फूल खिले हैं, पेड़ किस प्रकार यहाँ से वहाँ तक एक एक पंक्ति में चले गए हैं, लताओं का कैसा सुन्दर मंडप सा बन गया है, कैसी शीतल, मन्द, सुगन्ध हवा चल रही है" उनका प्रेम कोई प्रेम नहीं—उसे अधूरा समझना चाहिए। वे प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं। वे तमाशबीन हैं, और केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं। उनका हृदय मनुष्य-प्रवर्त्तित व्यापारों में पड़कर इतना कुंठित हो गया है कि उसमें उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियों में, जिनमें अत्यन्त आदिम काल में मनुष्य-जाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था तथा उन प्राचीन मानव-व्यापारों में, जिनमें वन्य दशा से निकलकर वह अपने निर्वाह और रक्षा के लिए लगी, लीन होने की वृत्ति दब गई अथवा यों कहिए कि उनमें करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आनेवाली अन्तःसंज्ञावर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गई जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। वे तड़क-भड़क, सजावट, रंगों की चमक-दमक, कलाओं की बारीकी पर भले ही मुग्ध हो सकते हों, सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते।

कँकरीले टीलों, ऊसर-पटपरों, पहाड़ के ऊबड़-खाबड़ किनारों या बबूल-करौंदे के झाड़ों में क्या आकर्षित करनेवाली कोई बात नहीं होती? जो फारस की चाल के बगीचों के गोल चौखूँटे कटाव, सीधी-सीधी रविशें, मेहँदी के बने भद्दे हाथी-घोड़े, काट-छाँटकर सुडौल किए हुए सरो के पेड़ों की कतारें, एक पंक्ति में फूले हुए गुलाब आदि देखकर ही वाह-वाह

करना जानते हैं उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयों को वैसा ही दुःखदायी होगा जैसा सज्जनों को खलों का। हमारे प्राचीन पूर्वज भी उपवन और वाटिकाएँ लगाते थे। पर उनका आदर्श कुछ और था। उनका आदर्श वही था जो अब तक चीन और योरप में थोड़ा-बहुत बना हुआ है। आजकल के पार्कों में हम भारतीय आदर्श की छाया पाते हैं। हमारे यहाँ के उपवन वन के प्रतिरूप ही होते थे। जो वनों में जाकर प्रकृति का शुद्ध स्वरूप और उसकी स्वच्छन्द क्रीड़ा नहीं देख सकते थे वे उपवनों में ही जाकर उसका थोड़ा-बहुत अनुभव कर लेते थे। वे सर्वत्र अपने को ही नहीं देखना चाहते थे। पेड़ों को मनुष्य की कवायद करते देखकर ही जो मनुष्य प्रसन्न होते हैं वे अपना ही रूप सर्वत्र देखना चाहते हैं; अहंकार-वश अपने से बाहर प्रकृति की ओर देखने की इच्छा नहीं करते।

काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं) उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। खेद है कि फारस की उस महफिली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है जिसमें चमन, गुल, बुलबुल, लाला, नरगिस आदि का ही कुछ वर्णन विलास की सामग्री के रूप में होता है—कोह, बयाबान आदि का उल्लेख किसी भारी विपत्ति या दुर्दिन के ही प्रसंग में मिलता है। फारस में क्या और पेड़-पौदे नहीं होते? पर उनसे वहाँ के शायरों को कोई मतलब नहीं। अलबुर्ज जैसे सुन्दर पहाड़ का विशद वर्णन किस फारसी काव्य में है? पर इधर वाल्मीकि को देखिए। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में केवल मंजरियों से छाए हुए रसालों, सुरभित सुमनों से लदी हुई मालती-लताओं, मकरन्द-पराग-पूरित सरोजों का ही वर्णन नहीं किया; इंगुदी, अंकोट, तेंदू, बबूल, बहेड़े आदि जंगली पेड़ों का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार योरप के कवियों ने भी अपने गाँव

के पास से बहते हुए नाले के किनारे उगनेवाली झाड़ी या घास तक का नाम आँखों में आँसू भरकर लिया है।* इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके व्यापार-गर्त से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है—भारत और योरप की पद्धति में है।

स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण, विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेंड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते ; अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है, और हृदय के गहरे तलों से सम्बन्ध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतशबाज़ी, जलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं यह वही रुचि है। काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की छोटी रुचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्तिपूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे। कोई बिहारी के विरह-वर्णन पर सिर हिलाता है, कोई 'यार' की कमर ग़ायब होने पर वाह वाह करता है। कालिदास ने अत्यन्त प्राकृतिक ढँग से रथ को धूल के आगे निकाला† तो भूषण ने घोड़े को छोड़े हुए तीर से एक तीर आगे कर दिया‡। पर मुबालग़ा जहाँ हद से ज्यादा बढ़ा कि मज़ाक़ हुआ। खेद है कि उर्दू की शायरी ऐसे ही मज़ाक़ की सूरत में आ गई।

'अनूठी बात' सुनने की उत्कंठा रखनेवाले जब काव्यरसिक समझे जाने लगे तब भिन्न भिन्न रसों के प्रवाह को दबाकर अद्भुत रस सबके

* [देखिए वर्ड्सवर्थ की 'एडमॉनीशन टु ए ट्रैवेलर' शीर्षक कविता।]

† [आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः।
—(अभिज्ञानशाकुन्तल, १।८)]

‡ [जिन चढ़ि आगे कों चलाइत तीर, तीर एक भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं।
—(शिवभूषण, २७२)]

ऊपर उछलने लगा, और नारायण पंडित जैसे लोगों को सर्वत्र वही दिखाई देने लगा। उन्होंने कह ही डाला कि—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए काव्य में कहीं कहीं असाधारणत्व अवश्य अपेक्षित होता है, पर उतनी ही मात्रा में जितनी से प्रकृत भाव दबने न पावे। इस उत्कर्ष के लिए कहीं कहीं असाधारणत्व पहले आलम्बन में अधिष्ठित होकर भाव के उत्कर्ष का कारणस्वरूप होता है। पर यह कहा जा चुका है कि भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलम्बन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गम्भीर से गम्भीर भावों का आलम्बन हो सकती है। साहचर्य-जन्य प्रेम कितना बलवान् होता है, उसमें वृत्तियों को तल्लीन करने की कितनी शक्ति होती है यह सब लोग जानते हैं; पर वह असाधारणत्व पर अवलम्बित नहीं होता। जिनका हमारा लड़कपन में साथ रहा है, जिन पेड़ों के नीचे, जिन टीलों पर, जिन नदी-नालों के किनारे हम अपने साथियों को लेकर बैठा करते थे, उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन भर स्थायी होकर बना रहता है। अतः चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है वहीं रस का परिपाक होता है, अन्यत्र नहीं।

प्रसंग-प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्त्तव्य है। काव्य-क्षेत्र अजायबख़ाना या नुमाइशगाह नहीं है। जो सच्चा कवि है उसके द्वारा अंकित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करनेवाली होती हैं। साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कला-कुशल कवि का ही काम है। साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करनेवाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व या व्यंजना-प्रणाली के असाधारणत्व में ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ साथ जिनमें मनुष्यजाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय कहे जा सकते हैं। पहले कह आए हैं कि वन्य और ग्रामीण दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन हैं, दोनों पेड़-पौदों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते हैं, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। हम पेड़-पौदों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर नगरों में आ बसे; पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हरवक्त पास न रखकर एक घेरे में बंद करते हैं, और कभी कभी मन बहलाने को उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों पर सुख से सोते हैं—

तां कस्याञ्चिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसना त्खिन्नविद्युत्कलत्रः।

गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं। और वासुदेवजी कभी कभी दीवार फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुरखी-चूने की कड़ाई की परवा न करके हरी हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर दूर भागे फिरते हो?

वनों, पर्वतों, नदी-नालों, कछारों, पटपरों, खेतों, खेतों की नालियों, घास के बीच से गई हुई डुर्रियों, हल-बैलों, झोपड़ों और श्रम में लगे हुए किसानों इत्यादि में जो आकर्षण हमारे लिए है वह हमारे अन्तःकरण में निहित वासना के कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नहीं। जो केवल पावस की हरियाली और वसन्त के पुष्प-हास के समय ही वनों और खेतों को देखकर प्रसन्न हो सकते हैं, जिन्हें केवल मंजरी-मंडित रसालों, प्रफुल्ल कदम्बों और सघन मालती-कुंजों का ही

दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्म के खुले हुए पटपर खेत और मैदान, शिशिर की पत्र-विहीन नंगी वृक्षावली और झाड़-बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नहीं करते उनको प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे केवल अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति में ढूँढ़ते हैं। उनमें उस 'सत्त्व' की कमी है जो सत्ता-मात्र के साथ एकीकरण की अनुभूति द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास देती है। सम्पूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अन्तर्गत है, अतः ज्ञान या तर्क-बुद्धि द्वारा हम जिस अद्वैत भाव तक पहुँचते हैं उसी भाव तक इस 'सत्त्व' गुण के बल पर हमारी रागात्मिका वृत्ति भी पहुँचती है। इस प्रकार अन्ततः दोनों वृत्तियों का समन्वय हो जाता है। यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् जान सकते हैं तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते हैं। तर्क-बुद्धि से हारकर परम ज्ञानी भी इस 'स्वानुभूति' का आश्रय लेते हैं। अतः परमार्थ दृष्टि से दर्शन और काव्य दोनों अन्तःकरण की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का आश्रय लेकर एक ही लक्ष्य की ओर ले जानेवाले हैं। इस व्यापक दृष्टि से काव्य का विवेचन करने से लक्षण-ग्रन्थों में निर्दिष्ट संकीर्णता कहीं कहीं बहुत खटकती है। वन, उपवन, चाँदनी इत्यादि को दाम्पत्य रति के उद्दीपन-मात्र मानने से सन्तोष नहीं होता।

पहले कहा जा चुका है कि रस के संयोजक जो विभाव आदि हैं वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि की कल्पना का पूर्ण विकास उन्हीं में देखना चाहिए। पर वहाँ कल्पना को कवि की अनुभूति के आदेश पर चलना पड़ता है, उसकी श्रेष्ठता कवि की सहृदयता से सम्बन्ध रखती है, अतः उस कृत्रिमता के काल में, जिसमें कविता केवल अभ्यास-गम्य समझी जाने लगी, कल्पना का प्रयोग काव्य का प्रकृत स्वरूप संघटित करने में कम होकर अलंकार आदि बाह्य आडम्बर फैलाने में अधिक होने लगा। पर विभावन द्वारा जब वस्तु-प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से हो ले तब आगे और कुछ होना चाहिए। विभाव वस्तु-चित्रमय होता है; अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलम्बन होती है वहाँ

अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है। पिछले कवियों में इस वस्तु-चित्र का विस्तार क्रमशः कम होता गया। प्रकृतिक दृश्यों के चित्रण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियों की कल्पना ऐसे रूपों की योजना करने में, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने में प्रयुक्त होती थी जिससे किसी स्थल का चित्र पूरा होता था, और जो श्रोता के भाव का स्वयं आलम्बन होती थी। वे जिन दृश्यों को अंकित कर गए हैं उनके ऐसे ब्योरों को उन्होंने सामने रखा है जिनसे एक भरा-पूरा चित्र सामने आता है। ऐसे दृश्य अंकित करने के लिए प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है; उसके स्वरूप में इस प्रकार तल्लीन होना पड़ता है कि एक एक ब्योरे पर ध्यान जाय। उन्हें इस बात का अनुभव रहता था कि कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक एक वस्तु और व्यापार का संश्लिष्ट रूप में भरना जितना जरूरी है उतना उपमा आदि ढूँढ़ना नहीं, इसी से उनके चित्र भरे-पूरे हैं, और इधर के कवियों ने जहाँ परम्परा-पालन के लिए ऐसे चित्र खींचे भी हैं वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं। उनके चित्र (यदि चित्र कहे जा सकें) ऐसे ही हुए हैं जैसा किसी चित्रकार का अधूरा छोड़ा हुआ चित्र; जिसमें कहीं एक रेखा यहाँ लगी है, कहीं वहाँ—कहीं कुछ रंग भरा जा सका है, कहीं जगह खाली है। चित्रकला के प्रयोग द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है। वाल्मीकि के वर्षा-वर्णन को लीजिए और जो जो वस्तुएँ आती जायँ उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अंकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी का भागवत से लिया गया वर्षा-वर्णन लेकर ऐसा ही कीजिए, और दोनों चित्रों को इस बात का ध्यान रखकर मिलाइए कि ये किष्किन्धा की पर्वतस्थली के चित्र हैं।

आदिकवि का कैसा सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण है, वस्तुओं और व्यापारों की कैसी संश्लिष्ट योजना है, उन्होंने किस प्रकार एक एक पेचीले ब्योरे पर ध्यान दिया है, यह दिखाने के लिए नीचे कुछ पद्य दिए जाते हैं—

व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम् ।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥
रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम् ।
अनेकवर्णं पवनावधूतं भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम् ॥
मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम् ।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहङ्गाः सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति ॥*

अब पंचवटी में लक्ष्मण हेमन्त का कैसा दृश्य देख रहे हैं उसका एक छोटा सा नमूना लीजिए—

अवश्यायनिपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥
अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ॥
—(अरण्य, १६ सर्ग)†

---

* पर्वत की नदियाँ सर्ज और कदम्ब के फूलों से मिश्रित, पर्वत-धातुओं (गेरू) से लाल, नए गिरे जल से कैसी शीघ्रता से बह रही हैं, जिनके साथ मोर बोल रहे हैं। रस से भरे भौंरों के समान काले काले जामुन के फलों को लोग खा रहे हैं। अनेक रंग के पके आम के फल वायु के झोंकों से टूटकर भूमि पर गिरते हैं। प्यासे पक्षी, जिनके पंख पानी से बिगड़ गए हैं, मोती के समान इन्द्र के दिए हुए जल का, जो पत्तों की नोंक पर लगा हुआ है, हर्षित होकर पी रहे हैं।

† वन की भूमि, जिसकी हरी हरी घास पाला गिरने से कुछ कुछ गीली

महाकवि कालिदास ने भी जहाँ स्थल-वर्णन को सामने रखकर दृश्य अंकित किया है वहाँ उनका निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म है—

आमेखलं सञ्चरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥
भागीरथीनिर्झरशीकराणां वोढा मुहुःकम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥*

उपमाएँ देने में कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, पर वस्तु-चित्र को उपमा आदि का अधिक बोझ लादकर उन्होंने भद्दा नहीं किया। उनका मेघदूत—विशेषकर पूर्वमेघ—तो यहाँ से वहाँ तक एक मनोहर चित्र ही है। ऐसा काव्य तो संस्कृत क्या, किसी भाषा में भी शायद ही हो। जिनमें ऐतिहासिक सहृदयता है, देश के प्रकृत स्वरूप के साथ

हो गई है, नई धूप पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड़ता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अन्धकार में सोए से जान पड़ते हैं। नदियाँ, जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें के सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते हैं, हिम से आर्द्र बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं, जिनकी केसर और कर्णिका टूट-फूटकर छितरा गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नाल-मात्र खड़े हैं।

* मेखला तक घूमनेवाले मेघों के नीचे के शिखरों में प्राप्त छाया को सेवन करके वृष्टि से कँपे हुए सिद्ध लोग जिसके धूपवाले शिखरों का सेवन करते हैं। जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिए हाथियों के द्वारा रगड़े गए सरल (सलई) के पेड़ों से टपके हुए दूध से उत्पन्न सुगन्ध को सुगन्धित करती है। गंगा के झरने के कणों को ले जानेवाला, बार-बार देवदारु के पेड़ों को कँपानेवाला, मयूरों की पूँछों को छितरानेवाला जिसका पवन मृगों के ढूँढ़नेवाले किरातों द्वारा सेवन किया जाता है।

जिनके हृदय का सामंजस्य है, मेघदूत उनके लिए भावों का भरा-पूरा भंडार है। जिनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है, जो सर्वत्र उपमा, उत्प्रेक्षा ही ढूँढ़ा करते हैं, जो 'अनूठी उक्तियों' पर ही वाह वाह किया करते हैं, उनके लिए चाहे उसमें कुछ भी न हो।

कालिदास ने वन-श्री, पुर की शोभा आदि का ही वर्णन एक एक ब्योरे पर दृष्टि ले जाकर नहीं किया, उजाड़ खँडहरों का भी ऐसा ही वर्णन किया है, उनका ऐसा स्वरूप सामने रखा है जिसे अतीत स्वरूप के साथ मिलाने पर करुणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कुश जब कुशावती में जाकर राज्य करने लगे तब अयोध्या उजड़ गई। एक दिन रात को अयोध्या का अधिदेवता स्त्री का रूप धरकर उनके पास गया और अयोध्या की हीन दशा का अत्यन्त मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया। उस प्रसंग के केवल दो श्लोक नीचे दिए जाते हैं; जिनसे सारे वर्णन का अनुमान पाठक कर लेंगे—

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तं इतस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः॥
रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः॥*

भावमूर्त्ति भवभूति ने यद्यपि शब्दालङ्कार की ओर अधिक रुचि दिखाई पर प्रकृति के रूप-माधुर्य की ओर उनका पूर्ण ध्यान रहा। नाटक में स्थल-चित्रण के लिए पूर्ण अवकाश न होने पर भी उन्होंने बीच बीच में उसकी जो झलक दिखाई उससे वन्य प्राकृतिक दृश्यों का गूढ़ अनुराग लक्षित होता है। खेद है कि जिस कल्पना का उपयोग मुख्यतः पदार्थों

---

* समय के फेर से काले पड़े हुए चूनेवाले मन्दिरों में, जिनके इधर उधर घास अंकुर उगे हैं, रात्रि के समय मोती की माला के समान वे चन्द्रकिरणें अब प्रकाश नहीं करतीं। रात्रि में दीपक के प्रकाश से रहित और दिन में स्त्रियों के मुख की कान्ति से शून्य, जिनमें से धुएँ का निकलना बन्द हो गया है ऐसे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गए हैं।

का रूप संघटित करने, प्राकृतिक व्यापारों को प्रत्यक्ष करने और इस प्रकार किसी दृश्य-खंड के ब्योरे पूरे करने में होना चाहिए था उसका प्रयोग पिछले कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि की उद्भावना करने में ही अधिक किया। महाकवि माघ प्रबन्ध-रचना में जैसे कुशल थे वैसे ही उसके पक्षपाती भी थे ; पर उनकी प्रवृत्ति हम प्रस्तुत वस्तु-विन्यास की ओर कम और अलंकार-योजना की ओर अधिक पाते हैं। उनके दृश्य-वर्णन में वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों का सा प्रकृति का रूप-विश्लेषण नहीं है ; उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि की भरमार है। उदाहरण के लिए उनके प्रभात-वर्णन से कुछ श्लोक दिए जाते हैं—

अरुणजलजराजी मुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्यासुतेव ॥
विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभिर्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥
व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमाली न यावत् तिमिरमखिलमस्तं तावदेवाऽरुणेन।
परपरिभवितेजस्तन्वतामाशु कर्तुं प्रभवति हि विपक्षोच्छेदमग्रेसरोऽपि ॥*

इस वर्णन में यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि को दृश्य की एक एक सूक्ष्म वस्तु और व्यापार प्रत्यक्ष करके चित्र पूरा करने की उतनी चिन्ता नहीं है जितनी कि अद्भुत अद्भुत उपमाओं आदि के द्वारा एक कौतुक

* अरुण कमलरूपी कोमल हाथ पैरवाली, मधुपमालारूपी कज्जलयुक्त कमल-नेत्रवाली, पक्षियों के कलरवरूपी रोदनवाली यह प्रभातवेला सद्योजात बालिका के समान रात्रिरूपी अपनी माता की ओर लपकी आ रही है। जिस प्रकार घड़ा खींचते समय स्त्रियाँ कुछ कोलाहल करती हैं उसी प्रकार के पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशारूपी स्त्रियाँ, दूर तक फैली हुई किरणरूपी रस्सियों से, सूर्यरूपी घड़े को बाँधकर बड़े भारी कलश के समान समुद्र के भीतर से खींचकर ऊपर निकाल रही हैं। सूर्य के उदय होने से पहले ही सूर्य के साथी अरुण ने सारा अन्धकार दूर कर दिया ; वैरियों को नष्ट करनेवाले स्वामियों के आगे चलनेवाला सेवक भी शत्रुओं को मार भगाने में समर्थ होता है।

खड़ा करने की। पर काव्य कौतुक नहीं है, उसका उद्देश्य गम्भीर है।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षक किसी वर्णन के ज्ञातृ-पक्ष (Subjective) और ज्ञेय-पक्ष (Objective)—अथवा विषयी-पक्ष और विषय-पक्ष—दो पक्ष लिया करते हैं। जो वस्तुएँ बाह्य प्रकृति में हम देख रहे हैं उनका चित्रण ज्ञेय-पक्ष के अन्तर्गत हुआ, और उन वस्तुओं के प्रभाव से हमारे चित्त में जो भाव या अभ्यास उत्पन्न हो रहे हैं वे ज्ञातृ-पक्ष के अन्तर्गत हुए। अतः उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के आधिक्य के पक्षपाती कह सकते हैं कि पिछले कवियों के दृश्य-वर्णन ज्ञातृ-पक्ष-प्रधान हैं। ठीक है; पर वस्तु-विन्यास प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौन्दर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोड़ा-बहुत आप से आप होगा। वस्तुओं के सम्बन्ध में इन भावों का ठीक-ठीक अनुभव करने में सहारा देने के लिए कवि कहीं बीच बीच में अपने अन्तःकरण की भी झलक दिखाता चले तो यहाँ तक ठीक है। यह झलक दो प्रकार की हो सकती है—भावमय और अपर-वस्तुमय। जैसे, किसी ने कहा—"तालाब के उस किनारे पर खिले कमल कैसे मनोहर लगते हैं!" यहाँ कमलों के दर्शन से सौन्दर्य का जो भाव चित्त में उदित हुआ वह वाच्य द्वारा स्पष्ट कह दिया गया। यही बात यदि यों कही जाय कि "तालाब के उस किनारे पर खिले कमल ऐसे लगते हैं मानों प्रभात के गगन-तट पर की ललाई" तो सौन्दर्य का भाव स्पष्ट न कहा जाकर दूसरी ऐसी वस्तु सामने ला दी गई जिसके साथ भी वैसे ही सौन्दर्य का भाव लगा हुआ है। एक में भाव वाच्य द्वारा प्रकट किया गया दूसरे में अलंकार-रूप व्यंग्य द्वारा। इससे स्पष्ट है कि दृश्य-वर्णन करते समय कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा वर्ण्य वस्तुओं के मेल में जो दूसरी वस्तुएँ रखता है सो केवल भाव को तीव्र करने के लिए। अतः वे दूसरी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए जिनसे प्रायः सब मनुष्यों के चित्त में वे ही भाव उदित होते हों जो वर्ण्य वस्तुओं से होते हैं। यों ही खिलवाड़ के लिए बार बार प्रसंग-प्राप्त वस्तुओं से श्रोता या पाठक का ध्यान हटाकर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव

उद्दीप्त करने में भी सहायक नहीं, काव्य के गाम्भीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। इसी प्रकार बात बात में "अहाहा! कैसा मनोहर है! कैसा आह्लादजनक है!" ऐसे भावोद्गार भी भद्देपन से खाली नहीं, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध हैं। तात्पर्य यह कि भावों की अनुभूति में सहायता देने के लिए केवल कहीं कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग उतना ही उचित है जितने से बिम्ब ग्रहण करने में, दृश्य का चित्र हृदयंगम करने में, श्रोता या पाठक को बाधा न पड़े।

जहाँ एक व्यापार के मेल में दूसरा व्यापार रखा जाता है वहाँ या तो (क) प्रथम व्यापार से उत्पन्न भाव को अधिक तीव्र करना होता है; जैसे, हिलती हुई मंजरियाँ मानों भौंरों को पास बुला रही हैं; अथवा (ख) द्वितीय व्यापार का सृष्टि के बीच एक गोचर प्रतिरूप दिखाना; जैसे—

"बुंद-अघात सहैं गिरि कैसे? खल के बचन संत सह जैसे।"

दूसरी अवस्था में प्रस्तुत दृश्य स्वयं सृष्टि या जीवन के किसी रहस्य का गोचर प्रतिबिम्बवत् हो जाता है। अतः इस प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में कल्पना उत्साह नहीं दिखाती। इसी से जहाँ दृश्य-चित्रण इष्ट होता है वहाँ के लिए यह अवस्था अनुकूल नहीं होती।

वाल्मीकिजी भी बीच बीच में उपमाएँ देते गए हैं; पर उससे उनके सूक्ष्म निरीक्षण में कसर नहीं आने पाई है। वर्षा में पर्वत की गेरू से मिलकर नदियों की धारा का लाल होकर बहना, पर्वत के ऊपर से पानी की मोटी धारा का काली शिलाओं पर गिरकर छितराना, पेड़ों पर गिरे वर्षा के जल का पत्तियों की नोकों पर से बूँद बूँद टपकना और पक्षियों का उसे पीना, हेमन्त में कमलों के नाल-मात्र का खड़ा रहना और उसके छोर पर केसर का छितराना, ऐसे ऐसे व्यापारों को वे सामने लाते चले गए हैं। सुन्दरकांड के पाँचवें सर्ग में जो छोटा सा 'चन्द्रनामा' है वह इसके विरोध में नहीं उपस्थित किया जा सकता; क्योंकि वह एक प्रकार की स्तुति या वर्णन-मात्र है। वहाँ कोई दृश्य-चित्रण नहीं है।

विषयी या ज्ञाता अपने चारों ओर उपस्थित वस्तुओं को कभी का

किस प्रकार अपने तत्कालीन भावों के रंग में देखता है इसका जैसा सुन्दर उदाहरण आदिकवि ने दिया है वह वैसा अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिले। पंचवटी में आश्रम बनाकर हेमन्त में जब लक्ष्मण एक एक वस्तु और प्राकृतिक व्यापार का निरीक्षण करने लगे उस समय पाले से धुँधली पड़ी हुई चाँदनी उन्हें ऐसी दिखाई पड़ी जैसी धूप से साँवली पड़ी हुई सीता—

> ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
> सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

इसी प्रकार सुग्रीव को राज्य देकर माल्यवान् पर्वत पर निवास करते हुए, सीता के विरह में व्याकुल, भगवान् रामचन्द्र को वर्षा आने पर ग्रीष्म की धूप से सन्तप्त पृथ्वी जल से पूर्ण होकर सीता के समान आँसू बहाती हुई दिखाई देती है, काले काले बादलों के बीच में चमकती हुई बिजली रावण की गोद में छटपटाती हुई वैदेही के समान दिखाई पड़ती है और फूले हुए अर्जुन के वृक्षों से युक्त तथा केतकी से सुगन्धित शैल ऐसा लगता है जैसे शत्रु से रहित होकर सुग्रीव अभिषेक की जल-धारा से सींचा जाता हो। यथा—

> एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
> सीतेव शोकसन्तप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति॥
> नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति माम्।
> स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी॥
> एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः।
> सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥

ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से, या उसके कुछ पहले ही से, दृश्य-वर्णन के सम्बन्ध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है, ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकर पद्यों के रूप में

पढ़े जाने लगे जैसे बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः उनमें अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा। कालिदास के ऋतुसंहार और रघुवंश के नवें सर्ग में सन्निविष्ट वसन्तवर्णन से इसका कुछ आभास मिलता है। उक्त वर्णन के श्लोक इस ढंग के हैं—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥

रीति-ग्रन्थों के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमशः यह ढंग ज़ोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तु-व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण धीरे धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार 'प्रत्यक्ष' अनुभव नहीं रह गया, 'आप्त-शब्द' हुआ। वर्षा के वर्णन में जो कदम्ब, कुटज, इन्द्रवधू, मेघ-गर्जन, विद्युत् इत्यादि का नाम लिया जाता रहा वह इसलिए कि भगवान् भरत मुनि की आज्ञा थी—

कदम्बनिम्बकुटजैः शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः।
मेघैर्वातैः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत्॥

कहना नहीं होगा कि हिन्दी के कवियों के हिस्से में यही आया। गिनी-गिनाई वस्तुओं के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण मात्र कराना अधिकतर उनका काम हुआ, सूक्ष्म रूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ 'विम्ब-ग्रहण' कराना नहीं।

ऋतु-वर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियों को भी औरों की देखादेखी दंगल का शौक़ पैदा हुआ। राजसभाओं में ललकारकर टेढ़ी-मेढ़ी विकट समस्याएँ दी जाने लगीं, और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्‌भुत अद्‌भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्ति करने लगे। ये उक्तियाँ जितनी ही बे-सिर-पैर की होतीं उतनी ही वाहवाही मिलती। काश्मीर के मङ्खक कवि जब अपना श्रीकंठचरित-काव्य काश्मीर के राजा की सभा में ले गए तब वहाँ कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के दूत सुहल ने उन्हें यह समस्या दी—

एतद्वभ्रुकचानुकारिकिरणं राजद्द्रुहोऽह्नः शिर-
श्छेदाभं वियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम्।

अर्थात् नेवले के बालों के सदृश पीली किरणों को प्रगट करता हुआ सूर्य का यह बिम्ब, चन्द्रमा का द्रोह करनेवाले दिन के कटे हुए सिर के समान, अकाश से पश्चिम-समुद्र में गिरता है (राज = राजा, चन्द्रमा)।

इसकी पूर्ति मंखक ने इस प्रकार की—

एषापि द्यु रमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते
सन्ध्याग्नौ विरचय्य तारकमिषाज्जातास्थिशेषस्थितिः ॥

अर्थात् दिशाओं में उत्पन्न सन्ध्यारूपी प्रचंड अग्नि में अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश की श्री (शोभा) भी तारों के बहाने (रूप में) अस्थिशेष हो गई। (काष्ठोत्थिते = काष्ठा + उत्थिते और काष्ठ + उत्थिते। काष्ठा = दिशा; काष्ठ = लकड़ी)। मतलब यह कि सती हो जाने-वाली आकाश-श्री की जो हड्डियाँ रह गईं वे ही ये तारे हैं।

जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी वह बाजीगर का तमाशा करने लगी। होते होते यहाँ तक हुआ कि "पिपीलिका नृत्यति वह्निमध्ये" और "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे" की नौबत आ गई।

कहाँ ऋषि-कवि का पाले से धुँधले चन्द्रमा का मुँह की भाप से अन्धे दर्पण के साथ मिलान और कहाँ तारे और हड्डियाँ! खैर, यहाँ दोनों का रंग तो सफेद है, और आगे चलकर तो यह दशा हुई कि दो दो वस्तुओं को लेकर सांग रूपक बाँधते चले जाते हैं, वे किसी बात में परस्पर मिलती-जुलती भी हैं या नहीं इससे कोई मतलब नहीं, सांग रूपक की रस्म तो अदा हो रही है। दूसरी बात विचारने की यह है कि सन्ध्या-समय अस्त होते हुए सूर्य को देख मंखक कवि के हृदय में किसी भाव का उदय हुआ या नहीं, उनके कथन से किसी भाव की व्यंजना होती है या नहीं? यहाँ अस्त होता हुआ सूर्य 'आलम्बन' और कवि ही आश्रय माना जा सकता है। पर मेरे देखने में तो यहाँ कवि का हृदय एकदम तटस्थ है। उससे सारे वर्णन से कोई मतलब ही नहीं। उसमें रति, शोक आदि किसी भाव का पता नहीं लगता। ऐसे पद्यों को काव्य में परिगणित देख यदि कोई "वाक्यं रसात्मकं

काव्यम्" की व्याप्ति में सन्देह कर बैठे तो उसका क्या दोष ? "ललाई के बीच सूर्य का बिम्ब समुद्र के छोर पर डूबा और तारे छिटक गए" इतना ही कथन यदि प्रधान होता तो वह दृश्य कवि और श्रोता दोनों के रति-भाव का आलम्बन होकर काव्य भी कहला सकता था। पर अलंकार से एकदम आक्रान्त होकर वह काव्य का स्वरूप ही खो बैठा। यदि कहिए कि अलंकार द्वारा उक्त दृश्य-रूप वस्तु व्यंग्य है तो भी ठीक नहीं ; क्योंकि 'विभाव' व्यंग्य नहीं हुआ करता। 'विभाव' में शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है जो भावों का आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है तब भावों के व्यापार का आरम्भ होता है। मुक्तक में जहाँ नायक-नायिका का चित्रण नहीं होता वहाँ उनका ग्रहण 'आक्षेप' द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा नहीं।

दृश्य-वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है, इसकी मनोविज्ञान की रीति से भी परीक्षा हो सकती है। एक पर्वत-स्थली का दृश्य वर्णन करके किसी को सुनाइए। फिर महीने दो महीने पीछे उससे उसी दृश्य का कुछ वर्णन करने के लिए कहिए। आप देखेंगे कि उस सम्पूर्ण दृश्य की सुसंगत योजना करनेवाली वस्तुओं और व्यापारों में शायद ही किसी का उसे स्मरण हो। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा उसका संस्कार बना रहा ; और इसलिए संकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्भावना हुई, शेष अंश छूट गया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था। इसीसे हिन्दी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है। केशव के पीछे तो प्रबन्ध काव्यों का बनना एक प्रकार से बंद ही हो गया। आचार्य बनने का ही हौसला रह गया, कवि बनने का नहीं। अलंकार और नायिका-भेद के लक्षण-ग्रन्थ लिखकर अपने रचे उदाहरण देने में ही कवियों ने अपने

कार्य की समाप्ति मान ली। ऐसे फुटकर पद्य-रचयिताओं की परिमित कृति में प्राकृतिक दृश्य ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। शृंगार के उद्दीपन के रूप में 'षट्ऋतु' का वर्णन अवश्य कुछ मिलता है; पर उसमें बाह्य प्रकृति के रूपों का प्रत्यक्षीकरण मुख्य नहीं होता, नायक-नायिका का प्रमोद या सन्ताप ही मुख्य होता है। अब रहे दो-चार आख्यान-काव्य। उनमें दृश्य-वर्णन को स्थान ही बहुत कम दिया गया है। अगर कुछ वर्णन परम्परा-पालन की दृष्टि से है भी तो वह अलंकारप्रधान है। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की भरमार इस बात की स्पष्ट सूचना दे रही है कि कवि का मन दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण में लगा नहीं है, उचट उचटकर दूसरी ओर जा पड़ा है।

कोई एक वस्तु सामने आई कि उपमा के पीछे परेशान। श्याम के 'छबीले मुख' का प्रसंग आया। बस, अन्धे सूरदास चारों ओर उपमा टटोल रहे हैं—

> बलि बलि जाउँ छबीले मुख की, या पटतर को को है?
> या बानक उपमा दीबे को सुकबि कहा टकटोहै?

उपमाएँ यदि मिलती गईं तब तो सब ठीक ही ठीक, एक वस्तु के ऊपर उपमा, पर उपमा उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा लादते चले जा रहे हैं। "हरि-कर राजतमाखन, रोटी", बस, इतनी ही सी तो बात है, उस पर

> मनों बारिज ससि बैर जानि जिय गह्यो सुधांसुहि धोटी;
> मनों बराह भूधर-सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी।

एक छोटी सी रोटी की हक़ीक़त ही कितनी, उस पर पहाड़ के सहित ज़मीन का बोझा लाकर रख दिया! उपमाएँ यदि न मिलीं तो बस, 'शेष' 'शारदा' पर फिरे, उनकी इज़्ज़त लेने पर उतारू!

मलिक मुहम्मद जायसी की 'पद्मावत' यद्यपि एक आख्यान-काव्य है पर उसमें भी स्थल-वर्णन सूक्ष्म नहीं है। सिंहल द्वीप के गढ़, राजद्वार, बगीचे आदि का वर्णन है। बग़ीचे के वर्णन में पेड़ों और चिड़ियों की फ़ेहरिस्त है; जो बहेलियों से भी मिल सकती है। प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के संयोग-सुख के सन्बन्ध में 'षट्ऋतु' और नागमती की विरह-

वेदना के प्रसंग में 'बारहमासा' अलबत है। दोनों का ढंग वही है जो ऊपर कहा गया है। दो उदाहरण यथेष्ट होंगे—

ऋतु पावस बरसे पिउ पावा ; सावन-भादौं अधिक सुहावा।
पदमावति चाहति ऋतु पाई ; गगन सुहावन, भूमि सुहाई।
कोकिल बैन, पाँति बग छूटी ; धन निसरीं जनु बीरबहूटी।
चमक बीजु, बरसै जल सोना ; दादुर-मोर-सबद सुठि लोना।
रँग राती पिय-सँग निसि जागी ; गरजे गगन, चौंकि गर लागी।
सीतल बूँद, ऊँच चौपारा ; हरियर सब दीखै संसारा।
हरियर भूमि, कुसुंभी चोला ; औ धन पिय-सँग रचा हिँडोला।

संयोग शृंगार की दृष्टि से यह वर्णन बड़ा मनोहर है। पर इसमें कवि का अपना सूक्ष्म निरीक्षण 'बरसै जल सोना' में ही दिखाई पड़ता है। और सब वर्णन परम्परानुसारी ही है। अब विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आषाढ़ का वर्णन लीजिए—

चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा ; साजा बिरह दुंद दल बाजा।
धूम स्याम धोरी घन धाए ; सेत धुजा बग-पाँति दिखाए।
खरग-बीजु चमकै चहुँ ओरा ; बुंद-बान बरसहिं घन घोरा।
उनई घटा आइ चहुँ फेरी ; कंत ! उबार मदन हौं घेरी।
दादुर, मोर, कोकिला पीऊ ; गिरहि बीज, घट रहै न जीऊ।
पुष्य-नखत सिर ऊपर आवा ; हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा।

पाठक देख सकते हैं कि फुटकर कहने या गाने के लिए ये पद्य कितने सुन्दर हैं। पर एक प्रबन्ध-काव्य के भीतर दृश्य-चित्रण की दृष्टि से यदि इन्हें देखते हैं तो सन्तोष नहीं होता। अन्य के सम्बन्ध में स्थित किसी भाव के 'उद्दीपन'-मात्र के लिए जितना वस्तु-विन्यास अपेक्षित था उतना जायसी ने किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'उद्दीपन'-रूप में दृश्य जो प्रभाव उत्पन्न करता है वह दूसरे के—अर्थात् 'आलम्बन' के—सम्बन्ध से, स्वतन्त्र रूप में नहीं। पर, जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है, प्राकृतिक दृश्य मनुष्य के भावों के स्वतन्त्र आलम्बन भी होते हैं। प्राचीन कवियों ने इन्हें पात्र के आलम्बन के रूप में और श्रोता के आलम्बन के रूप में,

दोनों रूपों में सन्निविष्ट किया है। 'कुमारसम्भव' का हिमालय-वर्णन श्रोता या पाठक में आलम्बन के रूप में है। वाल्मीकि-रामायण में लक्ष्मण का हेमन्त के अन्तर्गत पंचवटी-दृश्य-वर्णन पात्र और श्रोता दोनों के भाव का आलम्बन है ; वर्षा और शरत् का वर्णन पात्र (राम) के पक्ष में तो 'उद्दीपन' है, किन्तु रूप के सूक्ष्म विश्लेषण के बल से श्रोता के लिए आलम्बन हो गया है।

एक बड़े प्रबन्ध-काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का श्रोता के भाव के आलम्बन-रूप में वर्णन भी आवश्यक है, और यह स्वरूप उन्हें तभी प्राप्त हो सकता है जब उनका चित्रण ऐसे ब्योरे के साथ हो कि उनका बिम्ब-ग्रहण हो, उनका पूर्ण स्वरूप पाठक या श्रोता की कल्पना में उपस्थित हो जाय। कारण, रति या तल्लीनता उत्पन्न करने के लिए यह प्रत्यक्ष स्वरूप का परिचय आवश्यक है। सारांश यह कि 'उद्दीपन' होने के लिए रूप का थोड़ा थोड़ा प्रकाश क्या, संकेत-मात्र यथेष्ट है ; पर 'आलम्बन' होने के लिए पूर्ण और स्पष्ट स्फुरण होना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदासजी के भक्तिपूर्ण हृदय में भगवान् रामचन्द्र के सम्बन्ध से चित्रकूट के प्रति जो प्रेम-भाव प्रतिष्ठित था उसके कारण उन्होंने उसके रम्य स्वरूप पर अधिक दृष्टि जमाई है। नीचे दिए हुए वर्णन में यद्यपि प्रचलित रीति के अनुसार प्रत्येक वस्तु और व्यापार के साथ दृष्टान्त और उत्प्रेक्षा लगी हुई है, पर निरीक्षण बहुत अच्छा है—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत ;
बरषा-ऋतु-प्रवेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत।
चहुँ दिसि बन संपन्न, बिहग-मृग बोलत सोभा पावत ;
जनु सुनरेस-देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत।
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि ;
मनहुँ आदि-अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि।
सिखर परसि घन-घटहि मिलति बगपाँति सो छबि कबि बरनी ;
आदि-बराह बिहरि बारिधि मनों उठ्यो है दसन धरि धरनी।

जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिंब तरंग ;
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट-अँग-अग ।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि, भरि भरि जल आछे ;
'तुलसी' सकल सुकृत-सुख लागे मनौं राम-भक्ति के पीछे ।

बाह्य प्रकृति के सम्बन्ध में सूरदासजी की दृष्टि बहुत परिमित है। एक तो ब्रज की गोचारण-भूमि के बाहर उन्होंने पैर ही नहीं निकाला, दूसरे उस भूमि का भी पूर्ण चित्र उन्होंने कहीं नहीं खींचा। उद्दीपन के रूप में केवल द्रुम, बल्ली और यमुना के किनारेवाले कदम्ब का उल्लेख-भर बार बार मिलता है। गोपियों के विरह के प्रसंग में रीति के अनुसार पावस आदि का वर्णन अवश्य है ; पर कहने की आवश्यकता नहीं कि उसमें पावस स्वरूप-स्थित नहीं है, वियोगिनी गोपियों के मानस-प्रदत्त रूप में है—कहीं वह कृष्ण-रूप में है, कहीं चढ़ाई करते हुए राजा के रूप में, इत्यादि ; जैसे—

आजु घन स्याम की अनुहारि ;
उनइ आए साँवरे से, सजनी ! देखु रूप की आरि ।
इंद्रधनुष मानों पीतबसन-छबि, दामिनि दसन बिचारि ;
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि ।

अथवा

तुम्हारो गोकुल हो, ब्रजनाथ !
घेर्यो है अरि चतुरंगिनि लै मनमथ-सेना साथ ।
गरजत अति गंभीर गिरा, मनु मैगल मत्त अपार ;
धुरवा धूरि उड़त रथ पायक घोरन की खुरतार ।

केवल कहीं कहीं नियत वस्तुओं की कुछ अधिक गिनती-भर मिलती है ; जैसे—

बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर बेष ;
तिहि समय, सखि ! गगन-सोभा सबहि ते सुबिसेष !
उड़त खग, बग-बृंद राजत, रटत चातक, मोर ;
बहुल बिधि-बिधि रुचि बढ़ावत दामिनी घन-घोर ।

धरनि तृन तनु रोम पुलकित पिय-समागम जानि ;
द्रुमनि बर बल्ली बियोगिनि मिलति है पहिचानि।
हंस, सुक, पिक, सारिका, अलि गुंज नाना नाद ;
मुदित मंडल भेक-भेकी, बिहग बिगत बिषाद।
कुटज, कुमुद कदंब, कोबिद कनक आरि, मुकुंज ;
केतकी करबीर, बेलउ बिमल बहु बिधि मंजु।

यह नामावली निरीक्षण का फल नहीं है। इसकी सूचना 'कुमुद' और 'कोबिद' (कोविदार) पद दे रहे हैं। कचनार की शोभा वसन्त-ऋतु में ही होती है, जब कि वह फूलता है ; और कुमुद की तो पत्तियाँ भी वर्षा-काल में अच्छी तरह नहीं बढ़ी रहतीं।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि वस्तुओं की गिनती गिनाना ही वस्तु-विन्यास नहीं है। आस-पास की और वस्तुओं के बीच उनकी प्रकृत स्थापना से दृश्य के एक पूर्ण सुसंगत रूप की योजना होती है। "मौर लगे हैं, समीर चलता है, कोयल बोलती है" इस प्रकार कहना केवल वस्तुओं और व्यापारों की गिनती गिनाना है। रीती-ग्रन्थों में प्रत्येक ऋतु में वर्ण्य वस्तुओं की सूची देखकर यह तो हरएक कर सकता है। यह चित्रण नहीं है। इन्हीं वस्तुओं और व्यापारों को लेकर यदि हम इस प्रकार योजना करें—"वह देखो, मौरों से गुछी, मन्द मन्द झूमती हुई आम की डाली पर, हरी हरी पत्तियों के बीच अपने कृष्ण कलेवर को पूर्ण रूप से न छिपा सकती हुई कोयल बोल रही है!" तो यह दृश्य अंकित करने का प्रयत्न कहा जायगा। किसी वस्तु का वर्णन जितनी ही अधिक वस्तुओं के सम्बन्ध को लिए हुए होगा उतना ही वह पेचीला होगा, और कवि के निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रकट करेगा। इस दृष्टि से प्राचीन कवियों के वर्णनों का विचार करने पर इस बात का पता लग जायगा। देखिए, वाल्मीकि के 'मुक्तासकाशं' वाले श्लोक में पानी की बूँदों का आकाश से गिरना, गिरकर पत्तों की नोकों पर लगना और चिड़ियों के पंखों को बिगाड़ना, चिड़ियों का पत्तों की नोक पर लगी बूँदों को पीना, इतने अधिक व्यापार एक सम्बन्ध-सूत्र में एकत्र पिरोए

हैं। इसी प्रकार कालिदास ने हिमालय के पवन के साथ भागीरथी के जल-कण का फैलना, देवदारु के पेड़ों का काँपना, मोर की पूँछों का छितराना, किरातों का मृगों की खोज में निकलना और वायु-सेवन करना, इतने व्यापारों को परस्पर सम्बद्ध दिखाया है। पर इतनी अधिक संश्लिष्ट योजना के प्रत्यक्षीकरण के लिए विस्तृत और गूढ़ निरीक्षण अपेक्षित है। ऊपर गोस्वामी तुलसीदासजी का जो चित्रकूट-वर्णन दिया गया है उसमें यह बात कुछ कुछ है। "सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि" में यों ही काले बादल का नाम नहीं ले लिया है; वह ऊपर उठे हुए शृंग पर दिखाया गया है, और वह शृंग भी गेरू के रंग में रँगा हुआ है। इसी प्रकार "जल-जुत विमल सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिंब तरंग" में शिलाओं का धुलकर स्वच्छ होना, उन पर बरसाती पानी का लगना, स्वच्छता के कारण उनमें आकाश और बन का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ना, इतनी बातों की एक वाक्य में सम्बन्ध-योजना पाई जाती है।

जायसी से कवियों के एक और झुकाव का पता लगता है। 'कवि' और 'सयाने' जब एक ही समझे जाने लगे तब मनुष्य के व्यवसाय विशेष की जानकारी का खज़ाना भी काव्यों में खुलने लगा। घोड़ों का वर्णन है तो घोड़ों के पचासों भेदों के नाम सुन लीजिए; जिन्हें शायद घोड़ों के व्यवसायी ही जानते होंगे। भोजन का वर्णन है तो पूरी, कचौरी, कढ़ी, रायता, चटनी, मुरब्बा, पेड़ा, बरफ़ी, जलेबी, फेनी, गुलाबजामुन आदि जितनी चीज़ों के नाम कविजी जानते हैं सब मौजूद! इन व्यंजनों को सामने रखने से पाठकों को ललचाने के सिवा और क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? पर काव्य भूख जगाने के लिए तो है नहीं। जिसे रोग आदि के कारण भोजन से अरुचि हो गई होगी वह किसी अच्छे वैद्य के नुस्खे का सेवन करेगा। भोजन की पत्तल का वर्णन करना प्राचीन कवि भद्दापन और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझते थे। इसी से उन्होंने दृश्यकाव्य में भोजन के दृश्य का निषेध किया है। नामावली की इस प्रथा का अनुसरण जायसी, सूरदास, सूदन और महाराज रघुराज-

सिंह ने अधिक किया है। अस्त्र-शस्त्रों और पहरावों के नामों की फेहरिस्त देखनी हो तो सूदन का 'सुजानचरित्र' पढ़िए। हाथी-घोड़ों, सवारियों और राजसी ठाठ-बाट की वस्तुओं के नाम याद करने हों तो महाराज रघुराजसिंह का 'राम-स्वयंवर' उठा लीजिए।

केशवदासजी को अपने श्लेष, यमक और उत्प्रेक्षा इत्यादि से फुरसत कहाँ कि विस्तृत सम्बन्ध-योजना के साथ प्रकृति का निरीक्षण करने जायँ। सीधी तरह से कुछ वस्तुओं का नाम ले जायँ, यही ग़नीमत है।

फल-फूलन-पूरे, तरुवर रूरे, कोकिल-कुल कलरव बोलैं;
अति मत्त मयूरी पियरस-पूरी, वन वन प्रति नाचति डोलैं।

देखिए दंडक वन के वर्णन में श्लेष का यह चमत्कार दिखाकर आप चलते हुए—

सोभत दंडक की रुचि बनी, भाँतिन भाँतिन सुंदर घनी।
सेव बड़े नृप की जनु लसै, श्रीफल भूरिभाव जहँ बसै।
बेर भयानक सी अति लगै, अर्क-समूह जहाँ जगमगै।

'बेर', 'बनी', 'श्री-फल' और 'अर्क' शब्दों में श्लेष की कारीगरी दिखा दी, बस हो गया। वन-स्थली के प्रति उनका अनुराग तो था नहीं कि उसके रूप की छटा ब्यौरे के साथ दिखाते। 'भयानक' शब्द जो रखा हुआ है वह 'भावे का सूचक नहीं है; क्योंकि न तो 'बेर' ही कोई भयंकर वस्तु है, न आक (मदार) ही। श्लेष से 'अर्क' का अर्थ सूर्य लेने से 'समूह' के कारण प्रलय-काल का अर्थ निकलता है, जो प्रस्तुत नहीं है। दंडक वन क्या दे देता—'आनन्द' दे सकता था, वह भी नहीं देता था—जो उसके रूप का विश्लेषण केशवदासजी करने जाते? राजा की सेवा से 'श्री-फल' प्राप्त होता था, उसका जिक्र मौजूद है।

जब केशवदासजी का यह हाल है तब फुटकर पद्य कहनेवाले उनके अनुयायी 'कविदों' में प्रकृति का रूपविश्लेषण ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। ऋतु-वर्णन कीं पुरानी रीति उन्होंने निबाही है। उनके वर्णन में उद्दीपन-भर के लिए फुटकर वस्तुएँ आई हैं; सो वे भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक

आदि की भीड़ में छिपी हुई हैं। वसन्त कहीं राजा होकर आया है, कहीं फ़ौजदार, कहीं फ़क़ीर ; कहीं कुछ, कहीं कुछ। किसी ने कुछ बढ़कर हाथ मारा तो शिशिर और ग्रीष्म-ऋतु में जो अपने शरीर की दशा देखी उसका वर्णन कर दिया, और उपचार का नुस्खा कह गए—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस बीजन डुलाए ना सुखात सेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी।
ग्वाल कवि कहैं कोरे कुंभन में कूपन तें
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेरि अब,
पीवत हू पीवत बुझै न प्यास पापिनी॥

गरमी के मौसम के लिए एक कविजी राय देते हैं—

× × ×

सीतल गुलाब जल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमल-दल न्हाइबे को धँसिए।
कालिदास अंग अंग अगर अतर संग,
केसर, उसीर-नीर, घनसार घँसिए।
जेठ में गोविंदलाल चंदन के चहलन
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए॥

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि इन कवियों में कहीं प्रकृति का निरीक्षण मिलेगा ही नहीं। मिलेगा, पर थोड़ा, और वह भी बहुत ढूँढ़ने पर कहीं एकाध जगह। जैसे—

वृष को तरनि-तेज सहसौ किरन तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी, पंछी बिरमत है।

'सेनापति' नेक दुपहरी ढरकत होत
घमका* विषम, जो न पात खरकत है।
मेरे जान, पौन सीरे ठौर को पकरि कोऊ,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥

नन्ददासजी एक प्रसिद्ध कृष्णभक्त और कवि थे। पर व्रजभूमि की महिमा का बखान करते समय दृश्य अंकित करने के बखेड़े में वे भी नहीं पड़े। वहाँ चिरवसन्त रहता है, इतने ही में अपना मतलब सबको समझा दिया—

श्रीबृंदाबन चिद्घन, कछु छबि बरनि न जाई;
कृष्ण ललित लीला के काज गहि रह्यो जड़ताई।
जहँ नग, खग, मृग, लता, कुंज बीरुध, तृन जेते;
नहिंन काल-गुन प्रभा सदा सोभित रहैं तेते।
सकल जंतु अविरुद्ध जहाँ; हरि, मृग सँग चरहीं;
काम-क्रोध मद-लोभ-रहित लीला अनुसरहीं।
सब दिन रहत बसंत कृष्ण-अवलोकनि लोभा;
त्रिभुवन कानन जा बिभूति करि सोभित सोभा।
या बन की वर बानिक या बन ही बनि आवै;
सेस, महेस, सुरेस, गनेस न पारहिं पावै।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हमारी भाषा नए मार्ग पर आ खड़ी हुई; पर दृश्य-वर्णन में कोई संस्कार नहीं हुआ। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों की प्रणाली का अध्ययन करके सुधार का यत्न नहीं किया गया। भारतेन्दुजी का जीवन एकदम नागरिक था। मानवी प्रकृति में ही उनकी तल्लीनता अधिक पाई जाती है; बाह्य प्रकृति के साथ उनके हृदय का वैसा सामंजस्य नहीं पाया जाता। 'सत्यहरिश्चन्द्र' में गंगा का और 'चन्द्रावली में यमुना का वर्णन अच्छा कहा जाता है। पर ये दोनों वर्णन भी पिछले खेवे के कवियों की परम्परा के

* घमका = हवा का गिरना या ठहर जाना।

अनुसार ही हैं। इनमें भी एक एक साथ कई वस्तुओं और व्यापारों की सूक्ष्म सम्बन्ध-योजना नहीं है, केवल वस्तुओं और व्यापारों के पृथक्-पृथक् कथन के साथ उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्राचुर्य है। दोनों के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

(क)

नव उज्जल जल-धार हार-हीरक सी सोहति ;
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ;
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत, मिटावत।
कहूँ बँधे नवघाट उच्च गिरिवर-सम सोहत;
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत।
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा-पताका;
घहरत घंटा-धुनि धमकत धौंसा करि साका।
कहुँ सुंदरी नहाति, नीर कर जुगल उछारत ;
जुग अंबुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत।
धोवति सुंदरि बदन करन अति ही छबि पावत ;
बारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत।

(ख)

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुभर बहु छाए ;
झुके कूल सों जल परसन-हित मनहुँ सुहाए।
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा;
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल-लोभा।
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत ;
कै हरि-सेवा-हित नै रहे, निरखि नैन-मन सुख लहत।
कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन ;
कहुँ सैवालन-मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन।
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखति ब्रज-सोभा ;
कै उमँगे प्रिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा।

कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई ;
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई ।
कै पिय-पद-उपम न जानि यहि निज उर धारत ;
कै मुख करि बहु भृंगन-मिस अस्तुति उचारत ।
कै ब्रज-तियगन-बदन-कमल की झलकति झाँईं ;
कै ब्रज हरि-पद-परस-हेतु कमला बहु आईं ।

देखिए, यमुना के वर्णन में 'सैवालन-मध्य कुमुदिनी' में दो वस्तुओं की सम्बन्ध-योजना थी ; पर आगे चलकर जो 'उत्प्रेक्षा' और 'सन्देह' की भरमार हुई तो उसमें अलग अलग कुमुद और कमल ही रह गए, और वे भी अलंकारों के बोझ के नीचे दबे हुए ।

मैं समझता हूँ, अब यह दिखाने के लिए और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं, उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण वर्त्तमान है । इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल-स्वरूप और मूल-परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं । जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन से बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी । जैसे, 'सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में' बैठे हुए कविजी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठकर जीभ निकाल-निकाल हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा । इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े 'गुलगुली गिलमें, गलीचा' बिछाकर बैठे हुए स्वाँग से धूप में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है । पुतलीघर में एंजिन चलाते हुए देशी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है । विश्वास न हो तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए ।

जब कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं तब इस शंका के

लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है? जो जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं उन सबका वर्णन रस के अन्तर्गत है; क्योंकि 'भाव' का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति-भाव के रस-दशा तक पहुँचने की योग्यता 'दाम्पत्य रति' में ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप में भी दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं में बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना कि "जब मैं इन पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है जिसके नीचे मैं लड़कपन में बैठा करता था, और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है।" विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना का उदाहरण होगा।

पहले कहा जा चुका है कि जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ, हर्ष से नाचता हुआ या विषाद से रोता हुआ, दिखावे। मैं आलम्बन-मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नहीं है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशित करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभव हो ही नहीं। यदि ऐसा होता तो हिन्दी में 'नायिका-भेद' और 'नख-सिख' के जो सैकड़ां ग्रन्थ बने हैं उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं। नायिका-भेद में केवल शृंगार-रस के आलम्बन का वर्णन होता है, और 'नख-सिख' के किसी पद्य में उस आलम्बन के भी किसी एक अंग-मात्र का। पर ऐसे वर्णनों से रसिक लोग बराबर आनन्द प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य-वर्णन-मात्र को, चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे, हम काव्य कह सकते हैं। हिमालय-वर्णन को यदि हम कुमारसम्भव से निकालकर अलग कर लें

तो वह एक उत्तम काव्य कहला सकता है। मेघदूत में—विशेषकर पूर्वमेघ में—प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन ही प्रधान है। यक्ष की कथा निकाल देने पर भी उसका काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।

ऊपर 'नख-सिख' की बात आ गई है, इसलिए मनुष्य के रूपवर्णन के सम्बन्ध में भी दो-चार बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। कारण, दृश्य-चित्रण के अन्तर्गत वह भी आता है। 'नख-सिख' में केवल नायिका के रूप का वर्णन होता है। पर उसमें भी रूप-चित्रण का कोई प्रयास हम नहीं पाते, केवल विलक्षण उत्प्रेक्षाओं और उपमानों की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है; पर रूप नहीं निर्दिष्ट होता। काव्य में मुख, नेत्र और अधर आदि के साथ चन्द्र, कमल और विद्रुम आदि के लाने का मुख्य उद्देश्य वर्ण, आकृति आदि का ज्ञान कराना नहीं, बल्कि कल्पना में साथ साथ इन्हें भी रखकर सौन्दर्य-गत आनन्द के अनुभव को तीव्र करना है। काव्य की उपमा का उद्देश्य भावानुभूति को तीव्र करना है, नैयायिकों के 'गोसदृशो गवयः' के समान ज्ञान उत्पन्न कराना नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर कई एक प्रचलित उपमान बहुत खटकते हैं—जैसे, नायिका की कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिए सिंहिनी को सामने लाना, जाँघों की उपमा के लिए हाथी की सूँड़ की ओर इशारा करना। खैर, इसका विवेचन उपमा आदि अलंकारों पर विचार करते समय कभी किया जायगा। अब प्रस्तुत विषय की ओर आता हूँ।

मनुष्य की आकृति और मुद्रा के चित्रण के लिए भी काव्य-क्षेत्र में पूरा मैदान पड़ा है। आकृति-चित्रण का अत्यन्त उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिए जहाँ दो व्यक्तियों के अलग-अलग चित्रों में हम भेद कर सकें। जैसे, दो सुन्दरियों की आँख, कान, नाक, भौं, कपोल, अधर, चिबुक इत्यादि सब अंगों को लेकर हमने वर्णन द्वारा दो अलग अलग चित्र खींचे। फिर दोनों वर्णनों को किसी और के हाथ में देकर हमने उन दोनों स्त्रियों को उसके सामने बुलाया। यदि वह बतला दे कि 'यह

इसका वर्णन है और यह उसका' तो समझिए कि पूर्ण सफलता हुई। योरप के उपन्यासों में इस ओर बहुत कुछ प्रयत्न दिखाई पड़ता है; पर हमारे यहाँ अभी इधर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। मुद्रा चित्रित करने में गोस्वामी तुलसीदासजी अत्यन्त कुशल दिखाई पड़ते हैं। मृग पर चलाने के लिए तीर खींचे हुए रामचन्द्रजी को देखिए—

"जटा-मुकुट सिर, सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सिकोरे।"

इसी प्रकार राम के आगमन की प्रतीक्षा में शबरी—

"छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भ्रू पर पानि कै।"

पूर्वजनों की दीर्घ परम्परा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किए जाते हैं; जिनके कारण कुछ वस्तुओं के प्रति विशेष भाव अन्तःकरण में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बचपन से अपने घर में या बाहर हम जिन दृश्यों को बराबर देखते आए, जिनकी चर्चा बराबर सुनते आए, उनके प्रति एक प्रकार का सुहृद्भाव मन में घर कर लेता है। हिन्दुओं के बालक अपने घर में राम-कृष्ण की कथाएँ और भजन सुनते आते हैं, इससे राम-कृष्ण के चरितों से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों को देखने की उत्कंठा उनमें बनी रहती है। गोस्वामीजी के इन शब्दों में यही उत्कंठा भरी है—

अब चित चेत चित्रकूटहि चलु;
भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित, बन बिलोकु रघुबर-बिहार थलु।

ऐसे स्थानों के प्रति सम्बन्ध की योजना के कारण हृदय में विशेष रूप से भावों का उदय होता है। कोई राम-भक्त जब चित्रकूट पहुँचता है तब वह वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य पर ही मुग्ध नहीं होता, अपने इष्टदेव की मधुर भावना के योग से एक विशेष प्रकार के अनिर्वचनीय माधुर्य का भी अनुभव करता है। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्तों में जब झाड़ियों के काँटे उसके शरीर में चुभते हैं तब उसमें सान्निध्य का यह मधुर भाव बिना उठे नहीं रह सकता कि ये झाड़ उन्हीं प्राचीन झाड़ों के वंशज हैं जो राम, लक्ष्मण और सीता के कभी चुभें होंगे। इस भाव-योजना के

कारण उन झाड़ों को वह और ही दृष्टि से देखने लगता है। यह दृष्टि औरों को नहीं प्राप्त हो सकती।

ऐसे संस्कार जीवन में हम बराबर प्राप्त करते जाते हैं। जो पढ़े-लिखे नहीं हैं वे भी आल्हा आदि सुनकर कन्नौज, महोबा, नयनागढ़ (चुनारगढ़) इत्यादि के प्रति एक विशेष 'भाव' संचित करते हैं। पढ़े-लिखे लोग अनेक प्रकार के इतिहास, पुराण, जीवन-चरित आदि पढ़कर उनमें वर्णित घटनाओं से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों के दर्शन की उत्कंठा प्राप्त करते हैं। इतिहास-प्रसिद्ध स्थान उनके लिए तीर्थ से हो जाते हैं। प्राचीन इतिहास पढ़ते समय कल्पना का योग पूरा पूरा रहता है। जिन छोटे छोटे ब्यौरों का वर्णन इतिहास नहीं करता उनका आरोप अज्ञात रूप से कल्पना करती चलती है। यदि इस प्रकार का थोड़ा-बहुत चित्रण कल्पना अपनी ओर से न करती चले तो इतिहास आदि पढ़ने में जी ही न लगे। सिकन्दर और पौरव का युद्ध पढ़ते समय पढ़नेवाले के मन में सिकन्दर और उसके साथियों का यवन-वेश तथा पौरव के उष्णीष और किरीट-कुंडल मन में आवेंगे। मतलब यह कि परिस्थिति आदि का कोई चित्र कल्पना में थोड़ा-बहुत अवश्य रहेगा—जो भावुक होंगे उनमें अधिक रहेगा। प्राचीन समय का समाज-चित्र हम 'मेघदूत', 'मालविकाग्निमित्र' आदि में ढूढ़ते हैं, और उसकी थोड़ी-बहुत झलक पाकर अपने को और अपने हृदय को भूलकर तल्लीन हो जाते हैं। एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ काशी की कुंज-गली में जा निकला। प्राचीन काल में पहुँची हुई कल्पना को लिए हुए उस सँकरी गली में जाकर मैं क्या देखता हूँ कि पीतल की सुन्दर दीवटों पर दीपक जल रहे हैं, दूकानों पर केवल धोती पहने और उत्तरीय डाले (गरमी के दिन थे) व्यापारी बैठे हुए हैं, दीवारों पर सिन्दूर से कुछ देवतों के नाम लिखे हुए हैं, पुरानी चाल के चौखूँटे द्वार और खिड़कियाँ हैं। मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं प्राचीन उज्जयिनी की किसी वीथिका में आ निकला हूँ। इतने ही में थोड़ी दूर चलकर म्युनिसिपैलिटी की लालटेन दिखाई दी। बस, सारी भावना हवा हो गई।

इतिहास के अध्ययन से, प्राचीन आख्यानों के श्रवण से, भूतकाल का जो दृश्य इस प्रकार कल्पना में बस जाता है वह वर्त्तमान दृश्यों को खंडित प्रतीत होने से बचाता है, वह उन्हें दीर्घ काल-क्षेत्र के बीच चले आए हुए अतीत दृश्यों के मेल में दिखाता है, और हमारे 'भावों' को काल-बद्ध न रखकर अधिक व्यापकत्व प्रदान करता है। हम केवल उन्हीं से राग-द्वेष नहीं रखते जिनसे हम घिरे हुए हैं, बल्कि उनसे भी जो अब संसार में नहीं हैं, पहले कभी हो चुके हैं। पशुत्व और मनुष्यत्व में यही एक बड़ा भारी भेद है। मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्मप्रसार को बद्ध रखकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती जिसे वर्त्तमान कहते हैं। वह अतीत के दीर्घ पटल को भेद कर अपनी अन्वीक्षणबुद्धि को ही नहीं, रागात्मिका वृत्ति को भी ले जाती है। हमारे 'भावों' के लिए भूतकाल का क्षेत्र अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है। वहाँ वे शरीरयात्रा के स्थूल स्वार्थ से संश्लिष्ट होकर कलुषित नहीं होते—अपने विशुद्ध रूप में दिखाई पड़ते हैं। उक्त क्षेत्र में जिनके 'भावों' का व्यायाम के लिए संचरण होता रहता है उनके 'भावों' का वर्त्तमान विषयों के साथ उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उनके घृणा, क्रोध आदि भाव भी बहुत कम अवसरों पर ऐसे होंगे कि कोई उन्हें बुरा कह सके।

मनुष्य अपने रति, क्रोध आदि भावों को या तो सर्वथा मार डाले, अथवा साधना के लिए उन्हें कभी कभी ऐसे क्षेत्र में ले जाया करे जहाँ स्वार्थ की पहुँच न हो, तब जाकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति होगी। नए अर्थवादी 'पुराने गीतों' को छोड़ने को लाख कहा करें, पर जो विशाल हृदय हैं वे भूत को बिना आत्मभूत किए नहीं रह सकते। अतीत काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जो हमारा रागात्मक भाव होता है वह प्राप्त-काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हमारे भावों को तीव्र भी करता है और उनका ठीक ठीक अवस्थान भी करता है। वर्षा के आरम्भ में जब हम बाहर मैदान में निकल पड़ते हैं, जहाँ जुते हुए खेतों की सोंधी महक आती है और किसानों की स्त्रियाँ टोकरी

लिए इधर-उधर दिखाई देती हैं, उस समय कालिदास की लेखनी से अंकित इस दृश्य के प्रभाव से—

> त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः
> प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
> सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं
> किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥

हमारा भाव और भी तीव्र हो जाता है—हमें वह दृश्य और भी मनोहर लगने लगता है।

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने 'भाव' अंकित कर गए हैं उनके सामने अपने को पाकर मानों हम उन पूर्वपुरुषों के निकट जा पहुँचते हैं, और उसी प्रकार के भावों का अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं। वर्त्तमान सभ्यता ने जहाँ अपना दख़ल नहीं जमाया है उन जंगलों, पहाड़ों, गाँवों और मैदानों में हम अपने को वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति के समय में खड़ा कल्पित कर सकते हैं; कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी-कन्दराओं में, प्रभात के प्रफुल्ल पद्म-जाल में, छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में हमारी आँखें कालिदास, भवभूति आदि की आँखों से जा मिलती हैं। पलाश, इंगुदी, अंकोट बनों में अब भी खड़े हैं, सरोवरों में कमल अब भी खिलते हैं, तालाबों में कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर शाखाएँ अब भी झुक झुककर तीर का नीर चूमती हैं; पर हमारी आँखें उनकी ओर भूलकर भी नहीं जातीं, हमारे हृदय से मानों उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया। अग्निमित्र, विक्रमादित्य आदि को अब हम नहीं देख सकते। उनकी आकृति वहन करनेवाला आलोक अब न जाने किस लोक में पहुँचा होगा; पर ऐसी वस्तुएँ अब भी हम देख सकते हैं जिन्हें उन्होंने भी देखा होगा। सिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए प्राचीन उज्जयिनी के ढूहों पर सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइए, इधर-उधर उठी हुई पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को

जाते हुए कालिदासजी हमें देर तक देखा करते थे; उस समय 'सिप्रा-वात' उनके उत्तरीय को फहराता था*। काली शिलाओं पर से बहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खँडहरों में वे ईंट-पत्थर अब भी पड़े हुए हैं जिन पर अंगराग-लिप्त शरीर और सुगन्ध धूम से बसे केश-कलापवाली रमणियों के† हाथ पड़े होंगे।

बिजली से जगमगाते हुए नए अँगरेजी ढंग के शहरों में, धुआँ उगलती हुई मिलों और ह्वाइट वे लेडला की दूकान के सामने, हम कालिदास आदि से अपने को बहुत दूर पाते हैं। पर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेद-भाव मिट जाता है, हम सामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा चिरकाल-व्यापी शुद्ध 'मनुष्यत्व' का अनुभव करते हैं, किसी विशेष-काल-बद्ध मनुष्यत्व का नहीं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि विशेष-काल-बद्ध मनुष्यत्व न सही, पर देश-बद्ध मनुष्यत्व तो यह अवश्य है। हाँ, है। इसी देश-बद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देश-भक्ति या देश-प्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता वह देश-प्रेम का दावा नहीं कर सकता। इस स्वतन्त्र सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतन्त्र सत्ता है; केवल अन्न-धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतन्त्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूलकर यदि भारत-वासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करनेवाली बँधी-बँधाई परम्परा से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहास-शून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखाया। फ़िलीपाइन द्वीपवासियों से उनकी मर्यादा कुछ अधिक नहीं रह गई।

देश-प्रेम है क्या? प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलम्बन क्या है। सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु-पक्षी, नदी, नाले, बन, पर्वत

* [मेघदूत, पूर्वमेघ, ३२]। † [वही, २६]।

सहित सारी भूमि। प्रेम किस प्रकार का है। यह साहचर्यगत प्रेम है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ रहता है, सारांश यह है कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देश-प्रेम यदि वास्तव में अन्तःकरण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि सबसे प्रेम होगा, वह सबको चाह-भरी दृष्टि से देखेगा, वह सबकी सुध करके बिदेश में आँसू बहावेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, यह भी आँख-भर नहीं देखते कि आम प्रणयसौरभ-पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि 'भाइयो! बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा?' जिनके दुःख-सुख के तुम कभी साथी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो, यह कैसे समझें? उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पड़े पड़े या खड़े खड़े तुम विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई दिया करो; पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब नहीं है। हिसाब-किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं, पर प्रेम करनेवाले नहीं। एक अमेरिकन फारसवालों को उनके देश का सारा हिसाब-किताब समझा-कर चला गया।

हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान-मात्र हो सकता है। हित-चिन्तन और हित-साधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग या 'भाव' पर अवलम्बित है, उसका सम्बन्ध लोभ या प्रेम से है; जिसके बिना अन्य पक्ष में आवश्यक त्याग का उत्साह हो नहीं सकता।

जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

नैनन सों 'रसखान' जबै ब्रज के बन, बाग, तड़ाग, निहारौं ;
केतिक वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं ।

रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे ; पर देश-प्रेम की दुहाई देने-वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझकर—या कम से कम न खीझकर—बिना मन मैला किए कमरे का फर्श भी मैला होने देंगे ? मोटे आदमियो ! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठटरियों पर मांस चढ़ जाता !

पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइए। बाहर निकलिए तो आँख खोलकर देखिए कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर-उधर चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसिए, देखिए तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें कीजिए, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाइए और समझिए कि ये सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आँखों में समा जायगा, आप उसके अंग प्रत्यंग से परिचित हो जायँगे, तब आपके अन्तःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फला-फूला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का

स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा-मोटा जंगल है; जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्त्व-विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके; सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी महक आ रही है!" इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोककर कहा—"यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो रहा; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है। पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछनेवाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा होता है या बड़ा।

हिन्दूपन की अन्तिम झलक दिखानेवाले थानेस्वर, कन्नौज, दिल्ली, पानीपत आदि स्थान उनके गम्भीर भावों के आलम्बन हैं जिनमें ऐतिहासिक भावुकता है, जो देश के पुराने स्वरूप से परिचित हैं। उनके लिए इन स्थानों के नाम ही उद्दीपन-स्वरूप हैं। इन्हें सुनते ही उनके हृदय में कैसे कैसे भाव जाग्रत् होते हैं वे नहीं कह सकते। भारतेन्दु का इतना ही कहना उनके लिए बहुत है कि

> हाय पंचनद! हा पानीपत!
> अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत!
> हाय चितौर! निलज तू भारी;
> अजहुँ खरो भारतहि मँझारी!

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि का नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिन्दू-दृश्य आँखों के सामने फिर जाता है। उनके साथ गम्भीर भावों का सम्बन्ध लगा हुआ है ऐसे एक एक नाम हमारे लिए काव्य के टुकड़े हैं। ये रसात्मक वाक्य नहीं, तो रसात्मक शब्द अवश्य हैं।

अब तक जो कुछ कहा गया उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि काव्य में 'आलम्बन' ही मुख्य है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिनसे

श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत् होते हैं, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं जिनमें भावों को प्रदर्शित करनेवाले पात्र अर्थात् 'आश्रय' की योजना नहीं की गई है—केवल ऐसी वस्तुएँ और व्यापार सामने रख दिए गए हैं जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं। यदि किसी कवि ने किसी दृश्य का पूर्ण चित्रण करके रख दिया तो क्या वह इसीलिए काव्य न कहलावेगा कि उसके वर्णन के भीतर कोई पात्र उस दृश्य से प्राप्त आनन्द या शोक को अपने शब्द और चेष्टा द्वारा प्रगट करनेवाला नहीं है? कुमारसम्भव के आरम्भ के उतने श्लोकों को जिनमें हिमालय का वर्णन है, क्या काव्य से खारिज समझें? मेघदूत में जो आम्रकूट, विन्ध्य, रेवा आदि के वर्णन हैं उन सबमें क्या यक्ष की विरह-व्यथा ही व्यंग्य है?

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कीगिनती गिनाकर किसी प्रकार 'रस' की शर्त पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे तब से यह बात कुछ भूल सी चली कि कवियों का मुख्य कार्य ऐसे विषय को सामने रखना है जो श्रोता के विविध भावों के आलम्बन हो सकें। सच पूछिए तो काव्य में अंकित सारे दृश्य श्रोता के भिन्न भिन्न भावों के आलम्बन-स्वरूप होते हैं। किसी पात्र को रति, हास, शोक, क्रोध आदि प्रकट करता हुआ दिखाने में ही रस-परिपाक मानना और यह समझना कि श्रोता को पूरी रसानुभूति हो गई, बुरा हुआ। श्रोता या पाठक के भी हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है सो केवल दूसरों का हँसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिए ही नहीं, बल्कि ऐसे विषयों को सामने लाने के लिए जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हैं। राजा हरिश्चन्द्र को श्मशान में रानी शैव्या से कफन माँगते हुए, राम-जानकी को वनगमन के लिए निकलते हुए पढ़कर ही लोग क्या करुणार्द्र नहीं हो जाते? उनकी करुणा क्या इस बात की अपेक्षा करती है कि कोई पात्र उन दृश्यों पर शोक या दुःख, शब्दों और

चेष्टा द्वारा, प्रकट करे ? तुलसीदासजी के इस सवैये में—

कागर-कीर ज्यों भूषन-चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।
मातु, पिता, प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह-सगाई।
संग सुभामिनि भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई॥

पाठक को करुण रस में मग्न करने की पूरी सामग्री मौजूद है। परिस्थिति के सहित राम हमारी करुणा के आलम्बन हैं, चाहे किसी पात्र की करुणा के आलम्बन हों या न हों।

———

काव्य में रहस्यवाद

(यह निबन्ध केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्तिवश या जान-बूझकर जो अनेक प्रकार की बे-सिर-पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बन्द हो। कोई कहता है— "यही वर्त्तमान युग की कविता है"; कोई कहता है—"इसमें आजकल की आकांक्षाएँ भरी रहती हैं" और कोई समझता है कि "बस, यही कविता का रूप है"। किसी सभ्य जाति के साहित्य-क्षेत्र में ऐसे ऐसे प्रवादों का फैलाना शोभा नहीं देता।

मैं 'रहस्यवाद' का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।)

"कविता क्या है ?" शीर्षक निबन्ध* में हम कह चुके हैं कि कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। इस सौन्दर्य के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार और जगत के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। जिस प्रकार जगत् अनेकरूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेकभावात्मक है। इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जब कि उन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाय। जब तक यह सामंजस्य पूरा-पूरा न होगा तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि कोई पूरी तरह जी रहा है। उसकी सजीवता की मात्रा अधूरी और प्रसार संकुचित समझा जायगा। अतः काव्य का काम मनुष्य के सब भावों और सब मनोविकारों के लिए

* [देखिए चिन्तामणि, पहला भाग, पृष्ठ १६२]।

प्रकृति के अपार क्षेत्र से आलम्बन या विषय चुन चुनकर रखना है। इस प्रकार उसका सम्बन्ध जगत् और जीवन की अनेकरूपता के साथ स्वतः सिद्ध है।

काव्य-दृष्टि से जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का स्वरूप और सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते; मनुष्य-मात्र के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है; जहाँ व्यक्ति-जीवन का लोक-जीवन में लय हो जाता है, वही भाव की पवित्र भूमि है। वहीं विश्व-हृदय का आभास मिलता है। जहाँ जगत् के साथ हृदय का पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति भी स्वतः मंगलोन्मुखी हो जाती है। जो नरक के, परजन्म के अथवा राजदंड के भय से ही पाप या अपराध नहीं करते; तथा जो स्वर्ग के या परजन्म के सुख के लोभ से ही कोई शुभ कार्य करते हैं, उनमें हृदय के विकास का अभाव और जीवन के सौन्दर्य की अनुभूति की कमी समझनी चाहिए।

जीवन का सौन्दर्य वैचित्र्य-पूर्ण है। उसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं है। उसमें एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य आदि हैं; दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय आदि—एक ओर आलिंगन, मधुरालाप, रक्षा, सुख-शान्ति आदि हैं; दूसरी ओर गर्जन, तर्जन, तिरस्कार और ध्वंस। इन दो पक्षों के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य का प्रकाश नहीं हो सकता। जहाँ इन दोनों पक्षों में साध्य-साधक-सम्बन्ध रहता है, जहाँ इनमें सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वहाँ की उग्रता और प्रचंडता में भी सौन्दर्य का दर्शन होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौन्दर्य भी मंगल का ही पर्याय है। जो लोग केवल शान्त और निष्क्रिय (Static) सौन्दर्य के अलौकिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं वे कविता को जीवन-क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं।

योरप का वर्त्तमान लोकादर्शवाद (Humanitarian Idealism) मनुष्य की अन्तःप्रकृति के एक समूचे पक्ष के सर्वथा निराकरण में—केवल प्रेम और भ्रातृभाव की भीतरी शक्ति द्वारा क्रूरता, क्रोध, स्वार्थमद,

हिंसावृत्ति आदि की चिर शान्ति में—काव्य का परम उत्कर्ष मानता है और इसी के भीतर सौन्दर्य और मंगल को बद्ध देखता है। उसका कहना कुछ कुछ इस प्रकार है—

"सौन्दर्य से, प्रेम से, मंगल से पाप को एकदम समूल नष्ट कर देना ही हमारी आध्यात्मिक प्रकृति की एकमात्र आकांक्षा है।......उच्च साहित्य स्वभाव-निःसृत अश्रुजल से कलंक-मोचन करते हैं और स्वाभाविक आनन्द से पुण्य का स्वागत करते हैं।"*

यह परम भक्त ईसाई टालसटाय के साहित्यिक उपदेशों की बंगप्रतिध्वनि है। थोड़े शब्दों में इसका खुलासा यह है कि संसार में यदि क्रूरता, हिंसा, अत्याचार, स्वार्थमद आदि हैं तो अत्याचारी को विवेकी, क्रूर को सदय, पापी को पुण्यात्मा, अनिष्टकारी को प्रेमी बनाने के अविचल प्रयत्न-प्रदर्शन में ही साहित्य की उच्चता है अर्थात् शुभ और सात्त्विक भावों की अशुभ और तामस भावों पर चढ़ाई और विजय ऊँचे साहित्य का विधान है। क्रूरता पर क्रोध, अत्याचारियों का ध्वंस, पापियों को जगत् के मार्ग से हटाना, मध्यम काव्य का विधान है। वर्ण-व्यवस्था से शब्द लें तो एक ब्राह्मण-काव्य है, दूसरा क्षत्रिय-काव्य।

इन आदर्शवादियों का कहना है कि आदर्श को सदा सामान्य जीवन-भूमि से ऊँचे रखना चाहिए। ठीक है। जितने आदर्श होते हैं सब सामान्य भूमि से ऊपर उठे हुए होते हैं। पर यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौन्दर्य और मंगल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वहीं मिलती है, मंगल-सौन्दर्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को बहुत संकुचित करना है। कोई क्रूर अत्याचारी किसी दीन को निरन्तर पीड़ा पहुँचाता चला जाता है और वह पीड़ित व्यक्ति बराबर प्रेम प्रदर्शित करता और उस अत्याचारी का उपकार साधता चला जाता है; यहाँ तक कि अन्त में उस अत्याचारी की वृत्ति कोमल हो जाती है, वह पश्चात्ताप करता है और सुधर जाता है। यह

* श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर—"प्राचीन साहित्य।"

एक ऊँचा आदर्श है, इसमें सन्देह नहीं। पर इस आदर्श में केवल दो पक्ष हैं—अत्याचारी और पीड़ित। उस क्रूरता और पीड़ा को देखनेवाले तीसरे व्यक्ति की मनोवृत्ति का मंगलमय सौन्दर्य कहाँ है, इसका अनुसन्धान नहीं है। विचारने की बात है कि दूसरों का निरन्तर बढ़ती हुई पीड़ा को देख देख अत्याचारियों की शुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने में अधिक सौन्दर्य का विकास है; कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितों और अत्याचारियों के बीच उत्साहपूर्वक खड़े होने तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने में। हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य में मनुष्य के कर्म-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते हैं।

मनुष्य की अन्तःप्रकृति के एक पक्ष के सर्वथा अभाव को चरम साध्य रखकर निवृत्ति के आदर्श-स्वप्न में लीन करने में ही काव्य की उच्चता हम नहीं मान सकते। यह स्वप्न सुन्दर अवश्य है, पर जागरण इससे कम सुन्दर नहीं। स्वप्न और जागरण दोनों काव्य के पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों का सामंजस्य काव्य का चरम उत्कर्ष है। काव्य में हम 'वादों' का बाहर से आना ठीक नहीं समझते। पर यदि 'वाद' शब्द के बिना किसी पक्ष की पहचान न हो सकती हो तो हमें कहना पड़ेगा कि हमारा पक्ष है 'अभिव्यक्तिवाद' और 'सामंजस्यवाद'।

आदर्श व्यक्ति सिद्ध हो सकता है पर आदर्श लोक साध्य ही रहा है और रहेगा। जिस दिन यह सिद्ध हो जायगा उस दिन यह लोक कर्मलोक न रहेगा। फिर इसके रहने की भी जरूरत रहेगी या नहीं, नहीं कह सकते। प्रयत्न ही जीवन की शोभा है; जीवन का सौन्दर्य है—केवल अपना पेट भरने या आनन्द से तृप्त होने का प्रयत्न नहीं; लोक में उपस्थित बाधा, क्लेश, विषमता आदि से भिड़ने का प्रयत्न। अँगरेज कवि ब्राउनिंग (Browning) ने जीवन के इस प्रयत्न-सौन्दर्य की ओर इस प्रकार संकेत किया है—

"यदि मनुष्य केवल आनन्द से तृप्त होने के लिए ही, ढूँढ़ने, पाने

और आनन्द लेने के लिए ही, बना है तब तो जीवन का इतना गर्व—उसके महत्त्व की इतनी चर्चा—व्यर्थ है। यह आनन्द पूरा हुआ कि मनुष्यों के दिन भी पूरे हुए समझिए। क्या पेट-भरे पशु-पक्षी को भी संशय या चिन्ता सताती है?

फिर, प्रत्येक बाधा को, जो भूतल के सम-सुगम को विषम और दुर्गम करती हो, खुशी से आने दो; प्रत्येक दंश (पहुँचाए हुए कष्ट) को जो न बैठा रहने देता हो, न खड़ा रहने, बराबर चलाता ही रहता हो, खुशी से लगने दो। हमारे आनन्द बारह आने क्लेश ही हो जाय तो क्या? प्रयत्नवान् रहो और जो कुछ श्रम पड़े उसे गनीमत समझो। सीखो, कष्ट की परवाह न करो; साहस करो, क्लेश से मुँह न मोड़ो"।

जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रयत्न-सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान् की मंगलमयी शक्ति का दर्शन होता है। अतः जो आँख मूँदकर काव्य का पता जगत् और

---

* Poor vaunt of life indeed,
Were man but formed to feed
On joy, to solely seek and find and feast :
Such feasting ended, then
As sure an end to men ;
Irks care the cropful bird ? frets
Doubt the maw-crammed deast ?
Then welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough,
Each sting that bids nor sit, nor stand but go.
Be our joys three-parts pain !
Strive and hold chear the strain ;
Learn, nor account the pang ; dare never
Grudgethe throe.

जीवन से बाहर लगाने निकलते हैं वे काव्य के धोखे में, या उसके बहाने से, किसी और ही चीज के फेर में रहते हैं। इसी प्रकार जो लोग ज्ञात या अज्ञात के प्रेम, अभिलाष, लालसा या वियोग के नीरव-सरव क्रन्दन अथवा वीणा के तार झंकार तक ही काव्यभूमि समझते हैं उन्हें जगत् की अनेकरूपता और हृदय की अनेक-भावात्मकता के सहारे अन्धकूपता से बाहर निकलने की फिक्र करनी चाहिए। निकलने पर वे देखेंगे कि काव्यभूमि कितनी विस्तृत है। जितना विस्तार जगत् और जीवन का है उतना ही विस्तार उसका है। काव्यदृष्टि से यह दृश्य जगत् ब्रह्म की नित्य और अनन्त कल्पना है जिसके साथ उसका नित्य हृदय भी लगा हुआ है।

यह अनन्त-रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है—हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है। समष्टि-रूप में यह शाश्वत और अनन्त है। इसी की भिन्न भिन्न रूप चेष्टाओं की ओर हृदय के भिन्न भिन्न भावों को अपने निज के सम्बन्ध-प्रभाव से मुक्त करके प्रवृत्त करना ब्रह्म की व्यक्त सत्ता में अपनी व्यक्त सत्ता को लीन करना है। इस पुनीत भाव-भूमि में जब तक मनुष्य रहता है तब तक वह अनन्त काव्य के भावुक श्रोता या द्रष्टा के रूप में रहता है। कुछ लोगों का यह खयाल कि काव्यानुभूति एक और ही प्रकार की अनुभूति है, उसका प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से कोई सम्बन्ध ही नहीं, या तो कोई खयाल ही नहीं, या गलत है। काव्यानुभूति (Aesthetic mode or state) एक निराली ही अनुभूति है इस मत के कारण योरपीय समीक्षा-क्षेत्र में बहुत सा अर्थशून्य वाग्विस्तार बहुत दिनों से चला आ रहा है। इस मत की असारता रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने अपने 'काव्य-समीक्षा-सिद्धान्त' (Principles of Literary Criticism) में अच्छी तरह दिखाई है।

अपने को भूलकर, अपनी शरीर-यात्रा का मार्ग छोड़कर, जब मनुष्य किसी व्यक्ति या वस्तु के सौन्दर्य पर प्रेम-मुग्ध होता है; किसी ऐसे के दुःख पर जिसके साथ अपना कोई खास सम्बन्ध नहीं करुण से

व्याकुल होता है ; दूसरे लोगों पर सामान्यतः घोर अत्याचार करनेवाले पर क्रोध से तिलमिलाता है ; ऐसी वस्तु से घृणा का अनुभव करता है जिससे सबकी रुचि को क्लेश पहुँचता है ; ऐसी बात का भय करता है जिससे दूसरों को कष्ट या हानि पहुँचने की सम्भावना होती है ; ऐसे कठिन और भयंकर कर्म के प्रति उत्साह से पूर्ण होता है जिसकी सिद्धि सबको वांछित होती है तथा ऐसी बात पर हँसता या आश्चर्य करता है जिसे देख-सुनकर सबको हँसी आती या आश्चर्य होता है तब उसके हृदय को सामान्य भावभूमि पर और उसकी अनुभूति को काव्यानुभूति के भीतर समझना चाहिए। इसलिए यह धारणा कि शब्द, रंग या पत्थर के द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न की जाती है केवल वही काव्यानुभूति हो सकती है, ठीक नहीं है।

जिस अनुभूति की प्रेरणा से सच्चे कवि रचना करने बैठते हैं वह भी काव्यानुभूति ही होती है। सत्यकाव्य और असत्यकाव्य में—काव्य और काव्याभास में—यही भीतरी या मार्मिक अन्तर होता है कि सच्चा काव्य सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे सच्चे वर्णनों की केवल नक़ल करता है। न जाने कितने भाँट-कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की खुशामद में अपनी समझ में वीर और रौद्र रस लबालब भरकर बड़ी बड़ी पोथियाँ तैयार कीं, पर उनको लोक ने न अपनाया। वे या तो नष्ट हो गईं या उन राजाओं के वंशधरों के घरों में बेठनों में लपेटी पड़ी हैं। वे पोथियाँ सच्ची काव्यानुभूति की प्रेरणा से नहीं लिखी गई थीं उनके नायकों की वीरमूर्ति या रौद्र-मूर्ति रामकृष्ण की, शिवा-प्रताप की, वीर-रौद्र-मूर्ति कैसे हो सकती थी ? उनके उत्साह और उनके क्रोध को लोक अपना उत्साह और अपना क्रोध कैसे बना सकता था ?

अभिव्यक्ति केवल और निर्विशेष नहीं हो सकती। ब्रह्म अपनी व्यक्त सत्ता के भीतर अपने 'सत्' और 'आनन्द' स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए असत् और क्लेश का अवस्थान करता है—अपने मंगल रूप के प्रकाश के लिए अमंगल की छाया डालता है। मंगलपक्ष में सौन्दर्य

हास-विकास, प्रफुल्लता, रक्षा और रंजन इत्यादि हैं, अमंगल-पक्ष में विरूपता, विलाप, क्लेश और ध्वंस इत्यादि हैं। इन दोनों पक्षों के द्वन्द्व के बीच से ही मंगल की कला शक्ति के साथ फूटती दिखाई पड़ा करती है। अत्याचार, क्रन्दन, पीड़न, ध्वंस का सहन जगत् की साधना या तप है, जो वह भगवान् की मंगल-कला के दर्शन के लिए किया करता है। जीवन प्रयत्न-रूप है, अतः मंगल भी साध्य रहता है, सिद्ध नहीं। जो कविता मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर ही इशारा किया करती है, वह आलस्य, अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है। वह जगत् और जीवन के संघर्ष से कल्पना को भगाकर केवल मनोमोदक बाँधने और ख़याली पुलाव पकाने में लगती है। ऐसी कायर कल्पना ही से सच्चे काव्य का काम नहीं चल सकता जो जगत् और जीवन से सौन्दर्य और मंगल की कुछ सामग्री ले भागे और अलग एक कोने में इकट्ठी करके उछला-कूदा करे।

ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौन्दर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य और गत्यात्मक मंगल ही है; पर सौन्दर्य की गति भी नित्य और अनन्त है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौन्दर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कला-पक्ष से देखने में जो सौन्दर्य है, वही धर्म-पक्ष से देखने में मंगल है। जिस सामान्य काव्यभूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुन्दर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौन्दर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौन्दर्य की चर्चा बचाकर मंगल ही का जिक्र किया करता है। टालसटाय इस प्रवृत्ति-भेद को न पहचानकर काव्यक्षेत्र में लोकमंगल का एकान्त उद्देश्य रखकर चले इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई, जैसा कि उनकी सबसे उत्तम ठहराई हुई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होगा। यदि

टाल्सटाय की धर्म-भावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोक-धर्म का समावेश होता तो उनके कथन में शायद इतना असामंजस्य न घटित होता।

अब यहाँ यह बात फिर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है; अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है; काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है। मनुष्य का ज्ञान देश और काव्य के बीच बहुत परिमित है। वह एक बार में अपने भावों के लिए बहुत कम सामग्री उपस्थित कर सकता है। सदा और सर्वत्र किसी भाव के अनुकूल यह सामग्री उपलब्ध भी नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि सबकी कल्पना उतनी तत्पर नहीं होती कि जगत् की खुली विभूति से सचित रूपों और व्यापारों की वे जब चाहें तब ऐसी मर्मस्पर्शिणी योजना मन में कर सकें जो भावों को एकबारगी जाग्रत् कर दे। इसी से सूक्ष्म दृष्टि, तीव्र अनुभूति और तत्पर कल्पनावाले कुछ लोग कवि-कर्म अपने हाथ में लेते हैं।

प्रत्येक देश में काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् रूपी अभिव्यक्ति को लेकर हुआ। इस अभिव्यक्ति के सम्मुख मनुष्य कहीं प्रेमलुब्ध हुआ, कहीं दुखी हुआ, कहीं क्रुद्ध हुआ, कहीं डरा, कहीं विस्मित हुआ और कहीं भक्ति और श्रद्धा से उसने सिर झुकाया। जब सब एक दूसरे को ऐसा ही करते दिखाई पड़े तब सामान्य आलम्बनों की परख हुई और उनके सहारे एक ही साथ बहुत से आदमियों में एक ही प्रकार की अनुभूति जगाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ। इसका उपयोग जहाँ दस आदमी इकट्ठे होते—जैसे, यज्ञ में, उत्सव में, युद्ध-यात्रा में, शोक-समाज में—वहाँ प्रायः होता था। धीरे धीरे इसी अनुभूति-योग की साधना से कुछ अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न महात्माओं को इस विशाल विश्वविग्रह के भीतर 'परम हृदय' की झलक मिली जिससे कविता और ऊँची भूमि पर आई। वे चराचर के साथ मनुष्य-हृदय का संयोग कराने, सर्वभूतों के साथ मनुष्य को तादात्म्य का अनुभव कराने, उठे।

वाल्मीकि मुनि तमसा के हरे-भरे कूल पर फिर रहे थे। नाना वृक्ष और लताएँ प्रफुल्लता से झूम रही थीं। मृग स्वच्छन्द विचर रहे थे; पक्षी आनन्द से कलरव कर रहे थे। प्रकृति के उस महोत्सव में मुनि के हृदय का भी पूरा योग था। उनकी वृत्ति भी उसमें रमी हुई थी। इतने में देखते ही देखते क्रौंच के एक जोड़े का नर-पक्षी, रक्त से लिपटा, गिरकर मुनि के सामने तड़फने लगा। क्रौंची शोक से विह्वल ताकती रह गई। सुख-शान्ति का भंग हुआ। मुनि एकबारगी करुणा से व्याकुल, फिर रोष से उद्विग्न हो उठे। उनके मुँह से यह वाग्धारा छूट पड़ी—

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम-मोहितम् ॥

इस करुण क्रोध की वाणी में लोकरक्षा और लोकरंजन की साधना-विधि और काव्य के अनेक-भावात्मक स्वरूप की घोषणा थी। मुनि ने तमसा-तट की उस घटना में सम्पूर्ण लोकव्यापार का नित्य स्वरूप देखा। इससे वे हताश नहीं हुए। ध्यान करने पर उसी के भीतर उन्हें मंगलमयी ज्योति का दर्शन हुआ जिसमें शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों विभूतियों का दिव्य समन्वय था। इसी समन्वय को लेकर उनकी वेगवती वाग्धारा चली। यह समन्वय जटिल है—इस प्रकार का है कि चाहे किसी एक को अलग करके लें उसके साथ दूसरी दो विभूतियाँ भी इधर-उधर लगी रहेंगी। जैसे, यदि किसी ओर ध्वंस या नाश की ओर प्रवृत्त शक्ति को लें तो और सब ओर से वह शील-साधन और सौन्दर्य-विकास करती दिखाई देगी। यदि क्षमा-अनुग्रह में प्रवृत्त शील को लें तो अपार शक्ति उस क्षमा और अनुग्रह के सौन्दर्य को बढ़ाती दिखाई पड़ेगी। यदि सौन्दर्य को लें तो वह केवल व्याधि के रूप का प्रेम उभारता न दिखाई पड़ेगा, बल्कि शक्ति-शील के योग में भक्ति, आशा और उत्साह का संचार करेगा।

न तो अन्तःप्रकृति में एक ही प्रकार के भावों या वृत्तियों का विधान है और न बाह्य प्रकृति में एक ही प्रकार के रूपों या व्यापारों का। भीतरी और बाहरी दोनों विधानों में घोर जटिलता है। इन्हीं परस्पर सम्बद्ध

विविध वृत्तियों का सामंजस्य काव्य का परम उत्कर्ष और सबसे बड़ा मूल्य है। सामंजस्य काव्य और जीवन दोनों की सफलता का मूल मन्त्र है। काव्य का जो स्वरूप महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त प्राचीन काल में तमसा के किनारे प्रतिष्ठित किया था, आज ईसा की बीसवीं शताब्दी में इंगलैंड के अत्यन्त निर्मलदृष्टि समालोचक रिचर्ड्स, योरपीय समीक्षा-क्षेत्र का बहुत सा निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा-करकट पार करते हुए, उसी स्वरूप तक पहुँचे हैं। *

अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय सा तांडव करने या मुँदे नयनपलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना, कहाँ तक ठीक है? चारों ओर से बे-दखल होकर छोटे छोटे कनकौवों पर भला कविता कब तक टिक सकती है? असीम और अनन्त की भावना के लिए अज्ञात या अव्यक्त की

---

* Any thing is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some egual or more important appetency.

× × × ×

The complications possible in the systemisation of impu ses are indefinite. The plasticity of special appetencies and activities varies enormously, × ×

The importance of an impulse can be defined as the extent of the disturbance of other impulses in the individual's activities which thwarting of the impulse involves.

—I. A. Richards, Principles of Literary Criticism, Chap. VII. (Third Edition, 1928).

और झूठे इशारे करने की कोई जरूरत नहीं। व्यक्त पक्ष में भी वही असीमता और वही अनन्ता है। व्यक्त और अव्यक्त में कोई पारमार्थिक भेद नहीं। ये दोनों सापेक्ष और व्यावहारिक शब्द हैं और केवल मनुष्य के ज्ञान की परिमिति के द्योतक हैं। अज्ञात की 'जिज्ञासा' ही का कुछ अर्थ होता है; उसकी 'लालसा' या प्रेम का नहीं। भौतिक जगत् की रूप-योजना लेकर जिस प्रेम की व्यंजना होगी वह भाव की दृष्टि से वास्तव में भौतिक जगत् की उसी रूपयोजना के प्रति होगा। जगह जगह जिज्ञासा-वाचक शब्द रखकर उसे किसी और के प्रति बताना या तो प्रिय असत्य या साम्प्रदायिक रूढ़ि ही माना जायगा।

पहले कहा जा चुका है कि जिस प्रकार जगत् अनेकरूपात्मक है उसी प्रकार काव्य भी अनेक-भावात्मक है। प्रेम, अभिलाष, विरह, औत्सुक्य, हर्ष आदि थोड़ी सी मनोवृत्तियों का एक छोटा सा घेरा सम्पूर्ण काव्यक्षेत्र नहीं हो सकता। इन भावों के साथ और दूसरे भाव—जैसे, क्रोध, भय, उत्साह, घृणा इत्यादि—ऐसी जटिलता से गुम्फित हैं कि सम्यक् काव्यदृष्टि उनको अलग नहीं छोड़ सकती; चाहे उनका सामंजस्य शेष अन्तःप्रवृत्तियों के साथ कभी कभी मुश्किल से ही क्यों न बैठता हो।

आज-कल कवि के 'सन्देश' (Message) का फैशन बहुत हो रहा है। हमारे आदिकवि का—आदि से अभिप्राय प्रथम कवि से है जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की—सन्देश है कि सब भूतों तक, सम्पूर्ण चराचर तक, अपने हृदय को फैलाकर जगत् में भावरूप में रम जाओ; हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। करुण अमर्ष की जो वाणी उनके मुख से पहले पहल निकली उसमें यही सन्देश भरा था। समस्त चराचर में एक सामान्य हृदय की अनुभूति का जैसा तीव्र और पूर्ण उन्मेष करुणा में होता है वैसा किसी और भाव में नहीं। इसी से आदि कवि की वाणी द्वारा पहले पहल उसी की व्यंजना हुई। उस वाणी में काव्य के प्रकृत स्वरूप का भी पूरा संकेत था। मनुष्य की अन्तःप्रकृति के भीतर भावों का परस्पर जैसा जटिल सम्बन्ध है करुणा और क्रोध का वैसा ही जटिल सम्बन्ध वाणी में था।

आलम्बन-भेद से इन दो विरोधी भावों का कैसा सुन्दर सामंजस्य उस हृदय से निकले हुए सीधे सादे वाक्य में था।

अब उनके सन्देश का कुछ और विवरण लीजिए। रामायण में—विशेषत: वर्षा और हेमन्त के वर्णन में—जिस संश्लिष्ट ब्योरे के साथ उन्होंने प्रकृति के नाना रूपों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है उससे उन रूपों के साथ उनके हृदय का पूरा मेल पाया जाता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्योरों पर दृष्टि न जा ही सकती है, न रम ही सकती है। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक निबन्ध में हमने किसी वर्णन में आई हुई वस्तुओं का मन में दो प्रकार का ग्रहण बताया था—बिम्ब-ग्रहण और अर्थग्रहण मात्र। वर्षा और हेमन्त के वर्णन में वाल्मीकि ने बिम्ब-ग्रहण कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने वस्तुओं के अलग अलग नाम नहीं गिनाए हैं; उनके आकार, वर्ण आदि का पूरा ब्योरा देते हुए आस-पास की वस्तुओं के साथ उनका संश्लिष्ट दृश्य सामने रखा है। इसी संश्लिष्ट रूपयोजना का नाम चित्रण है। कवि इस प्रकार के चित्रण में तभी प्रवृत्त होता है जब वह बाह्य प्रकृति को आलम्बन-रूप में ग्रहण करता है। उद्दीपन-रूप में जो वस्तु-विधान होता है उसमें कुछ इनी-गिनी वस्तुओं के उल्लेख मात्र से काम चल जाता है।

वन, पर्वत, नदी, नाले पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, मैदान, कछार ये सब हमारे पुराने सहचर हैं और हमारे हृदय के प्रसार के लिए अभी तो बने हुए हैं; आगे की नहीं कह सकते। इनके प्रति युग युगादि का संचित प्रेम जो मनुष्य की दीर्घवंश-परम्परा के बीच वासना-रूप में निहित चला आ रहा है उसकी अनुभूति के उद्बोधन में ही मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का पूर्ण परिष्कार और मनुष्य के कल्याण-मार्ग का अबाध प्रसार दिखाई पड़ता है। इन्हें सामने पाकर इनसे यही कहने को जी करता है—

> एहो ! वन, बंजर, कछार, हरे-भरे खेत !
> विटप, विहंग ! सुनो, अपनी सुनावें हम।

छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम।
सड़े चले जा रहे हैं बँधे अपने ही बीच;
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम?
मूल रसस्रोत हो हमारे वही; छोड़ तुम्हें,
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम?
रूपों से तुम्हारे पले होंगे जो हृदय वे ही
मंगल की योग-विधि पूरी पाल पावेंगे।
जोड़ के चराचर की सुख सुषमा के साथ,
सुख को हमारे शोभा सृष्टि की बनावेंगे।
वे ही इस मँहगे हमारे नर-जीवन का
कुछ उपयोग इस लोक में दिखावेंगे।
सुमन-विकास, मृदु आनन के हास, खग-
मृग के विलास बीच भेद को घटावेंगे।
नर में नारायण की कला भासमान कर,
जीवन को वे ही दिव्य ज्योति सा जगावेंगे।
कूप से निकाल हमें छोड़ रूपसागर में,
भव की विभूतियों में भाव सा रमावेंगे।
वैसे तो न जाने कितने ही कुछ काल कला
अपनी दिखाते अस्त होते चले जावेंगे।
जीने के उपाय तो बतावेंगे अनेक; पर
जिया किस हेतु जाय, वे ही बतलावेंगे।*

ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी सभ्यता की झोंक में इन प्राचीन सहचरों से दूर हटता हुआ अपने क्रिया-कलाप को कृत्रिम आवरणों से आच्छन्न करता जा रहा है त्यों त्यों उसका असली रूप छिपता चला जा रहा है।

---

* [ये कवित्त शुक्लजी कृत 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक कविता से उद्धृत हैं।]

इस असली रूप का उद्घाटन तभी हुआ करेगा जब वह अपने बुने हुए घने जाल के घेरे से निकल कभी कभी प्रकृति के अपार क्षेत्र की ओर दृष्टि फैलाएगा और अपने इन पुराने सहचरों के सम्बन्ध का अनुभव करेगा। अपने घेरे से बाहर की क्रूरता और निष्ठुरता के अभ्यास का परिणाम अन्त में अपने घेरे के भीतर प्रकट होता है। योरपीय जातियों ने एशिया, अफ्रीका और अमेरिका आदि बाहरी भूभागों में जाकर क्रूरता और निष्ठुरता का बड़े अध्यवसाय के साथ अभ्यास किया। फल क्या हुआ ? उसी निष्ठुर और क्रूर वृत्ति का अत्यन्त भीषण विधान अन्त में गत महायुद्ध में योरप ही के भीतर सामने आया जिससे वहाँ आध्यात्मिकता की चर्चा का फैशन, जो उन्नीसवीं शताब्दी की आधिभौतिक प्रवृत्ति के हद से ज्याद: बढ़ने पर प्रतिवर्त्तन (Reaction) के रूप में पहले से चल पड़ा था, खूब बढ़ा। पर इस रोग की दवा अध्यात्मवाद, आत्मा की एकता, ब्रह्म की व्यापकता आदि की बनावटी पुकार नहीं है। इसका एक मात्र उपाय चराचर के बीच 'एक हृदय' की सच्ची अनुभूति तथा मनुष्यता तक ही नहीं उसके बाहर भी भावों का सामंजस्यपूर्ण प्रसार है।

अब तक जो कविता हुई है उसमें मनुष्येतर प्राणियों के—वृक्ष, पशु, पक्षी आदि के—प्रति स्पष्ट रूप में प्रेम की व्यंजना बहुत कम पाई जाती है। यह प्रेम स्वाभाविक और वास्तविक है, इसका अनुभव थोड़ा-बहुत तो सबको होगा। लड़कपन में जिस पेड़ के नीचे कभी हम खेला करते थे उसे बहुत दिनों पीछे देखने पर हमारी दृष्टि कुछ देर उस पर अवश्य थम जाती है। हम प्रेम से उसकी ओर देखते हुए उसके जीर्ण या बूढ़े होने की बात लोगों से कहते हैं। जिस कुत्ते ने कभी बहुत से कामों में हमारा साथ दिया था उसकी याद हमें कभी कभी आया करती है। जो बिल्ली कभी कभी जाड़े की धूप में हमारे छत के मुँडेरे पर लेटकर अपना पेट चाटा करती थी उसके बच्चों को हम कुछ प्रेम के साथ पहचानते हैं। जिन झाड़ियों को हम अपने जन्मग्राम के पास के नाले के किनारे देखा करते थे उन्हें किसी दूर देश में पहले पहल देखकर

उनकी ओर कम से कम मुड़ जरूर जाते हैं। पशु भी बदले में प्रेम करते हैं—केवल हित-अनहित ही नहीं पहचानते—इसके कहने की आवश्यकता नहीं। राम के वन जाने पर उनके प्यारे घोड़ों का हींसना, कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गायों का हूँकना, कवियों ने भी कहा है। तपोवन से प्रस्थान करते समय शकुन्तला की आँखों में अपने पोसे हुए मृगछौने और सींच सींचकर बढ़ाए हुए पौधों को देखकर भी कुछ आँसू आए थे।

न जाने क्यों हमें मनुष्य जितना और चर-अचर प्राणियों के बीच में अच्छा लगता है उतना अकेले नहीं। हमारे राम भी हमें मन्दाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने अयोध्या की राजसभा में नहीं। अपनी-अपनी रुचि है। अस्तु, यहाँ पर इतना ही कहना है कि काव्य-साहित्य में मनुष्येतर चर-अचर प्राणियों को थोड़ा और प्रेम का स्थान मिलना चाहिए। वे हमारी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं। हम ऐसे आख्यान या उपन्यास की प्रतीक्षा में बहुत दिनों से हैं जिसमें मनुष्यों के वृत्त के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते-बिल्ली आदि का भी कुछ वृत्त हो; घटनाओं के साथ किसी चिरपरिचित पेड़-झाड़ी आदि का भी कुछ सम्बन्ध दिखाया गया हो।

कहीं कहीं विलायती काव्य-समीक्षाओं में यह लिखा मिलेगा कि प्रकृति का केवल यथातथ्य चित्रण काव्य तो है, किन्तु प्रारम्भिक दशा का, उन्नत दशा या ऊँची श्रेणी का नहीं। इस कथन का अर्थ अगर बहुत दूर न घसीटा जाय, अपनी ठीक सीमा के भीतर रखा जाय, तो यही होगा कि प्रकृति के रूपों के चित्रण के अतिरिक्त उनकी व्यंजना पर भी ध्यान देना चाहिए। प्रकृति के नाना वस्तु-व्यापार कुछ भावों, तथ्यों और अन्तर्दशाओं की व्यंजना भी करते ही हैं। यह व्यंजना ऐसी अगूढ़ तो नहीं होती कि सब पर समान रूप से भासित हो जाय, किन्तु ऐसी अवश्य होती है कि निदर्शन करने पर सहृदय या भावुक मात्र उसका अनुमोदन करें। यदि हम खिली कुमुदिनी को हँसती हुई कहें, मंजरियों से लदे आम को माता और फूले अंगों न समाता समझें, वर्षा का पहला जल पाकर साफ़-सुथरे और हरे पेड़-पौधों को तृप्त और

प्रसन्न बताएँ, कड़कड़ाती धूप से तपते किसी बड़े मैदान के अकेले ऊँचे पेड़ को धूप में चलते प्राणियों को विश्राम के लिए बुलाता हुआ कहें, पृथ्वी को पालती-पोसती हुई स्नेहमयी माता पुकारें, नदी की बहती धारा को जीवन का संचार सूचित करें, गिरि-शिखर से स्पृष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य में पृथ्वी और आकाश का उमंग-भरा, शीतल, सरस और छायावृत आलिंगन देखें, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेंगे।

इसी प्रकार अभिव्यक्ति की प्रकृत प्रतीति के भीतर, प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर, जो भाव, तथ्य या उपदेश निकाले जायँगे वे भी सच्चे काव्य होंगे। उदाहरण के लिए अँगरेज कवि वर्ड्सवर्थ की 'एक शिक्षा' (A Lesson) नाम की कविता लीजिए। इसमें एक फूल का वर्णन है जो बहुत ठंढ, मेह या ओले पड़ने पर संकुचित होकर अपने दल समेट लेता है। कवि ने एक बार इस फूल को इस युक्ति से अपनी रक्षा करते देखा था। फिर कुछ दिनों पीछे देखा तब वह जीर्ण हो गया था, उसमें दल समेटने को शक्ति नहीं रह गई थी। वह मेह और ओले सह रहा था। उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया—

I stopped and said with inly muttered voice.
It doth not love the shower, nor seek the cold,
This neither is its courage nor its choice.
But its necessity in being old.

"मैं रुक गया और मन ही मन कहने लगा—यह न तो इस झड़ी को चाहता है, न इस ठंड ही को। न तो यह इसका साहस ही है, न रुचि। यह जरावस्था की अवशता है।"

प्रकृति की ऐसी ही सच्ची व्यंजनाओं को लेकर अन्योक्तियों का विधान होता है, जो इतनी मर्मस्पर्शिणी होती हैं। साहित्य-मीमांसकों के अनुसार अन्योक्ति में प्रस्तुत वस्तु व्यंग्य होती है अर्थात जो प्राकृतिक दृश्य सामने रखे जाते हैं उनसे किसी दूसरी वस्तु की, विशेषतः मनुष्य-जीवन-सम्बन्धी किसी मर्मस्पर्शी तथ्य की, व्यंजना की जाती है। अन्यो-

क्तियों में ध्यान देने की बात यह है कि व्यंग्य तथ्य पूर्णतया ज्ञात होता है और हृदय को स्पर्श कर चुका रहता है; इससे प्रकृति के दृश्यों को लेकर जो व्यंजना की जाती है वह बहुत ही स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण होती है। संस्कृत की जितनी अन्योक्तियाँ मिलती हैं सब इसी ढंग की होती हैं। उनके आधार पर बाबा दीनदयाल गिरि ने अपने 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' में बड़ी सुन्दर अन्योक्तियाँ कही हैं। पर दो एक ऐसी अन्योक्तियाँ भी उस पुस्तक में मिलेंगी जिनमें परोक्ष, अव्यक्त या अज्ञात तथ्य की व्यंजना का अनुकरण किया गया है, जैसे—

चल चकई ! वा सर-विषय जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह।
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख-अंबोह, मोह दुख होय न ताके।
बरनै दीनदयाल भाग्य बिनु जाय न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै ताहि सर तू चल चकई॥

अज्ञात या परोक्ष तथ्य की व्यंजना की यह हवा कबीर आदि निर्गुण पंथी संतों की बानी की है, जिसका एकआध झोंका व्यक्तिगत एकान्त उपासना में लीन रहनेवाले सूरदासजी को भी लगा था। गोस्वामी तुलसीदासजी इससे बचे रहे। अन्योक्ति द्वारा अव्यक्त, परोक्ष या अज्ञात तथ्य की व्यंजना को हम कृत्रिम और काव्यगत सत्य (Poetic truth) के विरुद्ध समझते हैं। जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पन्दन नहीं हुआ, उसकी व्यंजना का आडम्बर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र से निकलकर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए। वहीं ऐसी अनुभूति पर विश्वास करनेवाले मिलेंगे। खैर, इस बात को अभी हम यहीं छोड़ते हैं और प्रस्तुत प्रसंग पर आते हैं।

प्रकृति की सच्ची अभिव्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों का रमणीय वर्णन

भी काव्य का एक बहुत आवश्यक अंग है, यह ऊपर कहा जा चुका। अब हमें यह कहना है कि वैसा ही आवश्यक अंग प्रकृति के दृश्यों का यथा-तथ्य संश्लिष्ट चित्रण भी है। दोनों अलग अलग अंग हैं। दोनों का विधान भिन्न भिन्न दृष्टियों से होता है। प्रकृति के केवल यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में कवि प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति सीधे अपना अनुराग प्रकट करता है। प्रकृति के किसी खंड के ब्योरों में वृत्ति रमाना इसी अनुराग की बात है। प्रकृति की व्यंजना द्वारा गृहीत तथ्यों, उपदेशों आदि में कवि की दृष्टि मनुष्य-जीवन पर रहती है। इस भेद को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। दोनों विधानों का महत्त्व बराबर है। इनमें से किसी एक को उच्च और दूसरे को मध्यम कहना एक आँख बंद करना है। यही एकांगदर्शिता योरपीय समीक्षकों का बड़ा भारी दोष है।* यदि योरप के कवि उनकी बातों पर चलते तो वहाँ से कविता या तो अपना डेरा-डंडा उठा लिए होती, या लूली-लँगड़ी हो जाती। तथ्य-ग्रहण में अत्यन्त निपुण शेली, वर्ड्सवर्थ, मेरिडिथ आदि बड़े बड़े कवियों ने वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों की शैली पर कोरे प्राकृतिक दृश्यों का, बिना किसी दूसरे तथ्य-

* रिचर्ड्स ने योरपीय समीक्षा-क्षेत्र के अर्थशून्य वागाडम्बर और गड़बड़-झाले पर बहुत खेद प्रकट किया है।। उन्होंने संक्षेप में उसका स्वरूप इन शब्दों में सूचित किया है—

A few conjectures supply of admonitions many acute isolate observations, some brilliant guesses, much oratory and applied poetry, inexhaustible confusion, a sufficiency of dogma, no small stock of prejudices, whimsies and crotchets, a profusion of mysticism, a little genuine speculation, sundry stray inspirations of such as these is extant critical theory composed.

विधान के, बड़ा ही सूक्ष्म और संश्लिष्ट चित्रण किया है—और बहुत अधिक किया है। इसके लिए प्रसिद्ध हैं।

प्रकृति की ठीक और सच्ची व्यंजना के बाहर जिस भाव, तथ्य आदि का आरोप हम प्रकृति के रूपों और व्यापारों पर करेंगे वह सर्वथा अप्रस्तुत अर्थात् अलंकार मात्र होगा, चाहे हम उसे किसी अलंकार के बँधे साँचे में ढालें या न ढालें। उसका मूल्य एक फालतू या ऊपरी चीज़ के मूल्य से अधिक न होगा। चाहे हम कोई उपदेश निकालें, चाहे सादृश्य या साधर्म्य के सहारे कोई नैतिक या 'आध्यात्मिक' तथ्य उपस्थित करें, चाहे अपनी कल्पना या भावना का मूर्त्त विधान करें, वह उपदेश, तथ्य या विधान प्रकृति के किसी वास्तविक मर्म का उद्घाटन न होगा। अन्तःकरण की किसी अनुभूति का उद्घाटन भी वह तभी होगा जब किसी सच्चे भाव से प्रेरित और सम्बद्ध जान पड़ेगा। ऐसे तथ्य, कल्पना या विचार का—यदि उसकी कुछ सत्ता होगी—मूल्य पहले उसकी सूक्ष्मता, गम्भीरता, रमणीयता, नवीनता आदि की पृथक् परीक्षा द्वारा, प्राकृतिक रूपयोजना को अलग हटाकर, आँका जायगा। जब उसमें कुछ सार ठहरेगा तब प्राकृतिक रूपयोजना के साथ उसके साम्य (Analogy) की रमणीयता का विचार होगा। बनावटी आडम्बर-वाली कविताओं की परीक्षा के लिए इस पद्धति का बराबर स्मरण रखना चाहिए। इसके द्वारा अप्रस्तुत आरोप मात्र अलग हो जायगा और यह पता चल जायगा कि कुछ विचारात्मक या भावात्मक सार या सचाई है या नहीं।

कोरे अप्रस्तुत आरोप मात्र पर यदि कोई हृदय की लम्बी-चौड़ी उछल-कूद दिखाएगा तो या तो वह काव्यगत सत्य से बहुत दूर होगी, हृदय के किसी सच्चे भाव की व्यंजना न होगी अथवा जिसे वह प्रस्तुत बताता है, वह ज्ञात या अज्ञात, एक ओट या बहाना मात्र होगा। सत्य सबकी सामान्य सम्पत्ति होता है; झूठ हरएक का अलग अलग होता है। यही बात काव्यगत सत्यासत्य के सम्बन्ध में ठीक समझनी चाहिए।

विलायती समीक्षा-क्षेत्र में 'कल्पना' 'कल्पना' की पुकार बहुत बढ़ जाने पर प्रकृति की सच्ची अभिव्यक्ति से विमुख करनेवाले कई प्रकार के प्रवाद प्रचलित हुए। कल्पना के विधायक व्यापार पर ही पूरा जोर देकर यह कहा जाने लगा कि उत्कृष्ट कविता वही है जिसमें कवि अपनी कल्पना का वैचित्र्यपूर्ण आरोप करके प्रकृति के रूपों और व्यापारों को कुछ और ही रमणीयता प्रदान करे या प्रकृति की रूपयोजना की कुछ भी परवा न करके अपनी अन्तर्वृत्ति से रूपचमत्कार निकाल निकालकर बाहर रखा करे। पहली बात के सम्बन्ध में हमें केवल यही कहना है कि कल्पना की यह कार्रवाई वहीं तक उचित और कवि-कर्म के भीतर होगी जहाँ तक भाव-प्रेरित होगी और उसके आच्छादन से प्रस्तुत दृश्य पर से हमारे भाव का लक्ष्य हटने न पाएगा। दूसरी के सम्बन्ध में हमारा वक्तव्य यह है कि न तो सच्ची कल्पना तमाशा खड़ा करने के लिए है और न काव्य कोई अजायबघर है। कविता में कल्पना को हम साधन मानते हैं, साध्य नहीं।

प्रकृति के रूपों और व्यापारों का उपयोग साधन-रूप में भी होता है, जैसे, अलंकारों में। अलंकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की अनुभूति को तीव्र करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं; पर प्रकृति के रूप और व्यापार का व्यवहार प्रस्तुत के स्वरूप के गोचर प्रत्यक्षीकरण के लिए भी बराबर होता है। तीव्र अन्तर्दृष्टिवाले कवि अपने सूक्ष्म (Abstract) विचारों का बड़ा ही रमणीय मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण करते हैं। यह बात गूढ़ और सूक्ष्म अर्थगर्भित कविताओं में बराबर पाई जाती है। ऊपर जिस प्रकार की आडम्बरी कविता का उल्लेख हुआ है उसका इस प्रकार की कविता से लेशमात्र सम्बन्ध नहीं। इसकी अन्वयपूर्ण व्याख्या होने पर विचार जगमगाते हुए बाहर निकलते आते हैं। उसकी तह में विचार धारा का नाम तक नहीं रहता।

सूक्ष्म भावना (Abstract) के मूर्त्त (Concrete) प्रत्यक्षीकरण का विधान लक्षणा द्वारा भी होता है और 'साध्यवसान रूपक' द्वारा भी। लक्षणा व्यंग्य प्रयोजन सिद्ध करने के अतिरिक्त प्रस्तुत भावना

के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण भी करती है। लोभ से चंचल मन को यदि कहा जाय कि 'किसी ओर लपक रहा है' तो उसकी वृत्ति का स्वरूप गोचर होकर हमारे सामने आ जाता है। सूक्ष्म को मूर्त्त जिस प्रकार कवि लोग करते हैं उसी प्रकार कभी कभी मूर्त्त को सूक्ष्म भी करते हैं। जब उन्हें किसी गोचर तथ्य के सम्बन्ध में अपने पाठकों की दृष्टि का अत्यन्त प्रसार करके उन्हें विचारोन्मुख और उनकी मनोवृत्ति को गम्भीर करना वांछित होता है तब वे उस तथ्य की स्थूलता या गोचरता हटाकर उसे सूक्ष्म भावना (Adstract) के रूप में रखते हैं। ये दोनों विधान उच्चकोटि की कविता में, जिसमें सूक्ष्म विचारों का गूढ़ अन्तर्न्यास रहता है, बहुत ही प्रभाववर्द्धक होते हैं। पर इनका दुरुपयोग भी बहुत होता है। इधर 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से मूर्त्त विधान की बहुत मिट्टी खराब हुई। इस 'अभिव्यंजनावाद' (Expressionism) का आगे उल्लेख किया जायगा।

पहले हम कह आए हैं कि सच्ची कविता किसी 'वाद' को लेकर नहीं चलती, जगत् की अभिव्यक्ति को लेकर ही चलती है। वादग्रस्त काव्य अधिकतर काव्याभास ही होता है। उसमें प्रकृति के नाना रूप और व्यापार किसी वाद या सम्प्रदाय के घेरे में निरूपित बातों को मूर्त्त रूप में स्पष्ट करने या काव्य की भावात्मक शैली पर मनोरंजक बनाने के लिए, साधन-रूप में ही व्यवहृत होते हैं। वे अध्यवसान मात्र होते हैं। यदि कोई कहे कि किसी 'वाद' या सम्प्रदाय के भीतर निरूपित बातों की अनुभूति मेरे हृदय में वैसी ही होती है जैसी उन गोचर रूपों या व्यापारों की जिन्हें अभिव्यंजना के लिए मैं सामने रखता हूँ तो एक दूसरा 'वादी' या सम्प्रदायी उन्हीं रूपों और व्यापारों को अपने सम्प्रदाय की बिल्कुल उलटी बातों की अनुभूति प्रदर्शित करने के लिए रखेगा। इस प्रकार कविता के साम्प्रदायिक हो जाने पर प्रकृति के रूप और व्यापार अपने सच्चे अभिव्यक्ति-क्षेत्र से बाहर घसीटे जाकर साम्प्रदायिकों की खींच तान में पड़े रहेंगे और अपना असली प्रभाव खो बैठेंगे।

काव्य की प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध लोक-स्वीकृत और ठीक ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसी की होती है। हमारे यहाँ दर्शन के नाना वादों को काव्यक्षेत्र में घसीटने की प्रथा नहीं थी। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक वेदान्त वाद प्रचलित हुए पर काव्यक्षेत्र से, भक्तिकाव्य में भी, वे दूर ही रखे गए। निर्गुण-सम्प्रदायवाले ही सूफियों की नकल पर अद्वैतवाद, मायावाद, प्रतिबिम्बवाद इत्यादि की व्यंजना तरह तरह के रूपकों, साध्यवसान रूपकों,* अन्योक्तियों इत्यादि द्वारा चित्ताकर्षिणी मूर्तिमत्ता के साथ करते रहे। ब्रह्म, माया, पंचेन्द्रिय, जीवात्मा, विकार, परलोक आदि को लेकर कबीरदास ने अनेक मूर्त्त स्वरूप खड़े किए हैं।

इन मूर्त्त रूपकों में ध्यान देने की बात यह है कि जो रूपयोजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादों के स्पष्टीकरण के लिए की गई है उसकी अपेक्षा वह रूपयोजना जो किसी सर्वस्वीकृत, सर्वानुभूत तथ्य को भावक्षेत्र में लाने के लिए की गई है, कहीं अधिक मर्मस्पर्शिणी है। उदाहरण के लिए मायावादसमन्वित अद्वैतवाद के स्पष्टीकरण के लिए कबीर की यह उक्ति लीजिए—

> जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
> फूटा कुंभ, जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी॥

यह वेदान्त-ग्रन्थों में लिखा हुआ दृष्टान्त-कथन मात्र है। अच्छा इसी ढंग की एक दूसरी कुछ और विस्तृत रूपयोजना देखिए—

> मन न डिगै ताथैं तन न डराई।
> अति अथाह जल गहिर गँभीर, बाँधि जँजीर जलि बोरे हैं कबीर।
> जल की तरँग उठी, कटी है जँजीर; हरि सुमिरन-तट बैठे हैं कबीर॥

* इसे रूपकातिशयोक्ति से भिन्न समझना चाहिए जिसमें अध्यवसान आतिशय्य की व्यंजना के लिए होता है। साध्यवसान रूपक (Allegory) में अध्यवसान केवल मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण के लिए होता है, आतिशय्य की व्यंजना के लिए नहीं। साध्यवसान रूपक एक भद्दी चीज है इसे विलायती रहस्यवादी ईट्स (Yeats) तक स्वीकार करते हैं।

इसमें ज्ञानोदय द्वारा अज्ञान का बन्धन कटने और भवसागर के पार लगने का संकेत है। यह बन्धन हरि की कृपा से कटा है, इससे कबीरदास अब उनका स्मरण करते और गुण गाते हैं। यह एक निरूपित सिद्धान्त का वास्तव में घटित तथ्य के रूप में चित्रण मात्र है। 'ज्ञान से मुक्ति होती है और ज्ञान ईश्वर के अनुग्रह से होता है।' यह एक 'वाद' या सिद्धान्त है। कबीरदासजी इस बात को इस रूप में सामने पेश करते हैं मानो यह सचमुच हुई है—वे भवसागर के पार हो गए हैं और फूले नहीं समा रहे हैं। हम जानते हैं कि इसकी व्याख्या के लिए ऐसे बँधे और मँजे हुए वाक्य मौजूद हैं कि "यह तो साधक की उस दिव्य अनुभूति की दशा है जिसमें वह अपने को इस भौतिक कारागार से मुक्त और ब्रह्म की ओर अग्रसर देखता है।" पर यदि कोई कहे कि "यह सब कुछ नहीं; यह एक साम्प्रदायिक सिद्धान्त का काव्य के ढंग पर स्वीकार मात्र है," तो हम उसका मुँह नहीं थाम सकते।

अब देखिए कि उक्त दोनों उक्तियों की अपेक्षा कबीरदासजी की नीचे दी हुई दो उक्तियाँ, जो लोकगत या अनुभवसिद्ध तथ्यों को सामने रखती हैं, कितनी मर्मस्पर्शिणी हैं। देहावसान सबसे अधिक निश्चित एक भीषण तथ्य है। उसके निकट होने की कैसी मूर्त्तिमान् चेतावनी इस साखी में है—

> बाढ़ी आवत देखि करि तरिवर डोलन लाग।
> हमैं कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग॥

"हवा में हिलता पेड़ मानों बढ़ई को आता देख काँपता है—बुढ़ापे से हिलता शरीर मानों काल को पास पहुँचता देख थर्राता है। शरीर कहता है कि हमारे नष्ट होने की परवा नहीं; हे आत्मा! तू अपनी तैयारी कर।"

ऐसी एक और उक्ति लीजिए—

> मेरो हार हिरान मैं लजाऊँ।
> हार गुह्यो मेरो राम-ताग, बिचि बिचि मानिक एक लाग।
> पंच सखी मिली हैं सुजान, 'चलहु त जइए त्रिबेनी न्हान'।

न्हाई धोइ कै तिलक दीन्ह, ना जानू हार किनहि लीन्ह।
हार हिरानो, जन बिलम कीन्ह, मेरो हार परोसिनि आहि लीन्ह।

यह उस मन के खो जाने का पछतावा है जो ईश्वर का स्मरण किया करता था। जीवात्मा कहता है कि "मुझे पंचेन्द्रियाँ बहकाकर त्रिगुणात्मक प्रवाह में अवगाहन कराने ले गईं जहाँ मेरा मन फँस गया। उसी मन के प्रेम को लेकर मुझे उस प्रिय के पास जाने का अधिकार था। अब उसके बिनो जाते नहीं बनता। इन्द्रियों ने मुझे बेतरह ठगा"। इस पद में ईश्वर और परलोक माननेवाले मनुष्य मात्र की सामान्य भावना का अनुसरण करके बड़ा ही मधुर मूर्त्तविधान है। कुछ खटकनेवाला शब्द 'त्रिवेणी' (त्रिगुणात्मक प्रवाह) है क्योंकि प्रकृति के तीन गुण एक दर्शन विशेष के भीतर की निरूपित संख्या हैं। पर इस शब्द से अध्यवसान में बड़ा सुन्दर समन्वय हो गया है।

अन्योक्ति-पद्धति का अवलम्बन कबीरदासजी ने कम ही किया है। अधिकतर स्थानों में उन्होंने विकारों, भूतों, इन्द्रियों, चक्रों, नाड़ियों इत्यादि की शास्त्रों में बाँधी हुई केवल संख्याओं का उल्लेख साध्यवसान रूपकों में करके पहेली बुझाने का काम किया है। उनकी जो अन्योक्तियाँ या अध्यवसान प्रहेलिका के रूप में नहीं हैं और वादमुक्त हैं वे ही शुद्ध काव्य के अन्तर्गत आ सकते हैं। वाद या सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभाव-सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरों के हृदय में उस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, हम सच्चे कवि का काम नहीं मानते ; मतवादी का काम मानते हैं। मनुष्य का हृदय अत्यन्त पवित्र वस्तु है। उसे प्रकृत मार्ग से यों ही इधर उधर भटकाने की चेष्टा, चाहे वह निष्फल ही क्यों न हो, उचित नहीं।

मनुष्य-जीवन की वर्त्तमान और भविष्य स्थिति के सम्बन्ध में सूक्ष्म विचार द्वारा उपलब्ध तथ्यों और भावनाओं का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण आजकल योरप के काव्यक्षेत्र की सामान्य प्रवृत्ति है। सभ्यता की वर्त्तमान अवस्था में, जब कि मनुष्य का ज्ञान विचारात्मक होकर बहुत

विस्तृत हो गया है, ऐसा होना बहुत उचित और स्वाभाविक है। यहाँ पर यह दिखाने के लिए कि सूक्ष्म विचार और व्यापक दृष्टिवाले जीवित योरपीय कवियों की कविता भी कभी कभी वाद-ग्रस्त होकर किस प्रकार अपना स्वरूप बहुत कुछ खो देती है, हम अँगरेजी के आजकल के एक अच्छे कवि अबरक्रोंबे (Lascelles Abercrombie) को लेते हैं जो संकुचित दृष्टि के सिद्धान्ती रहस्यवादी न होने पर भी अध्यात्म की ओर झुककर कभी कभी रहस्योन्मुख हो जाते हैं।

अबरक्रोंबे में योरप के वर्त्तमान कवियों की थोड़ी-बहुत सब प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। कभी वे मीलों, कल-कारखानों आदि में काम करनेवाले मजदूरों की दुरवस्था पर, उनके साथ होनेवाले अन्याय और अत्याचार पर, करुणा और रोष प्रकट करते हैं; कभी जगत्, जीवन आदि के सम्बन्ध में तत्त्वचिन्तन करते हैं; कभी शरीर, आत्मा, असीम-ससीम की जिज्ञासा की प्रेरणा से रहस्य-भावना में प्रवृत्त होते हैं। इसी जिज्ञासा के क्षेत्र में उन्होंने कहीं कहीं परोक्ष-सम्बन्धी किसी वाद का प्रत्यक्षीकरण या 'अज्ञात के अभिलाष' का काव्यात्मक प्रतिपादन किया है 'मूर्ख का अनुसन्धान-साहस' (The Fool's Alventure) में उन्होंने 'तत्त्वमसि' के निरूपण के लिए जीवात्मा और ब्रह्म का एक खासा संवाद कराया है। एक जिज्ञासु ईश्वर (ब्रह्म) की खोज में मन और आत्मा का सारा प्रदेश छान डालता है और पहले विश्व की आत्मा तक पहुँचता है और उसी को ब्रह्म मान लेता है। इस पर एक ब्रह्मज्ञानी इस प्रकार उसकी भूल सुझाता है—

....................Poor fool,
And dids't thou think this present sensible world
Was God ?
It is a name...........
The name Lord God chooses to go by, made in
language of stars and heavens and life.

"अरे मूर्ख! तू ने क्या इस प्रस्तुत गोचर जगत् को ब्रह्म समझा था?

यह तो आकाश, नक्षत्र और जीवन-रूपी भाषा में व्यक्त एक नाम है जो अपने लिए उसने रख लिया है।"

अन्त में चराचर की सीमा पर पहुँचकर वह अपने अन्तस् के अदृश्य अधिष्ठाता से पूछता है—

Seeker—Then thou art God ?

Within—Ay, many call me so.
And yet, though words were never large enough To take me made, I have a better name.

Seeker—Then truly, who art thou ?

Within—I am Thy Self.

"जिज्ञासु—तो फिर तू ही ब्रह्म है ?

अन्तर्वाणी—हाँ, बहुत लोग ऐसा ही कहते हैं। फिर भी, यद्यपि शब्दों के भीतर मेरा स्वरूप नहीं आ सकता, मेरा इससे अच्छा नाम भी है।

जिज्ञासु—फिर तू है कौन ?

अन्तर्वाणी—मैं तू ही हूँ (तेरी आत्मा हूँ)।"

इसी प्रकार 'तुरीयावस्था' (The Trance) नाम की कविता में उन्होंने ब्रह्मानुभूति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"मैं निश्चय (जिसका सम्बन्ध बुद्धि या विचार से होता है) के ऊपर उठ गया था, काल से परे हो गया था। दिक् के ज्योतिष्क मंडलों से तथा उस कोने से जिसे चेतना या ज्ञान कहते हैं, बिल्कुल बाहर हो गया था। उस दशा में हे प्रभो ! क्या मैं तुम्हारे बीच में नहीं था।"*

---

* I was exalted aboue surety
And out of time did fall.
× × × ×
I stood outside the burning rims of place,
Outside that corner. consciousness.
Then was I not in the midst of thee
Lord God ?

यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत (Transcendental) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वयं अवरक्रोंबे ने ही अपनी एक दूसरी कविता 'शरीर और आत्मा' (Soul anb Boby) में, काव्य की वास्तविक भूमि क्या है, इसका आभास दिया है। उस कविता में आत्मा इस 'चेतना के तंग घेरे' से बाहर होने के लिए मनोमय कोश (ज्ञानेन्द्रियाँ और मन जिनसे सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है) को फेंका ही चाहती है कि शरीर उसको चेतावनी देता है कि ऐसा करने से

"तू इस विस्मयपूर्ण आनन्द को खो बैठेगा जिसे मैंने अपनी विषयविधायिनी इन्द्रियों द्वारा इस प्रिय जगत् में खड़ा कर रखा है। फिर यह नील-हरित, यह सौरभ, यह संगीत कहाँ? फिर यह शाद्वल-प्रसार, यह मन्द प्रशान्त अनिल-स्पर्श और ढलते सूर्य का स्वर्णाभ विराम कहाँ? फिर ये ऊँची उठी हुई पर्वतों की चोटियाँ कहाँ, जो आँखों पर कुहरे की पट्टी बाँधे (ध्यानावस्थित हो) मानों नित्य और दिव्य अनाहत स्वर सुन रही हैं।"*

मनोमय कोश ही प्रकृत काव्यभूमि है, यही हमारा पक्ष है। इसके

---

* Thou wilt miss the wonder I have made for thee
Of this dear world withMy fashioning seses—
The blue, the fragrance, the singing and the green;

× × × ×

Great spaces of grassy land, and all the air
One quiet, the sun taking golden ease
Upon an afternoon;
Tall hius that stand in weather-blinded trances
As if they heard, drawn upward and held there,
Some god's eternal tune.

भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का—जिसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं—सूचक बताना हम सच्चे कवि का क्या, सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।

अब थोड़ा 'अज्ञात की लालसा' का विचार भी कर लेना चाहिए जिसका निरूपण अबरक्रोंबे ने मज़हबी ढंग पर अपने 'सन्त थूमा का आत्म-विक्रय' (Sale of St. Thomas) नामक काव्य में किया है। ईसाइयों में एक प्रवाद प्रचलित है कि ईसा के चेले थूमा दक्षिण भारत में उपदेश करने आए थे। उसी प्रवाद के आधार पर यह कविता रची गई है। ईसा थूमा को भारतवर्ष में प्रचार के लिए भेजते हैं और वे भाग भाग आते हैं। जब वे दूसरी बार भागने पर होते हैं, तब हज़रत ईसा उनसे कहते हैं—

"थूमा! अपना पाप समझो। तुम डर से नहीं भागे हो, न। आदमी एक बार डर से सिटपिटाता है, पर फिर साहस करके सब प्रकार की आपत्तियाँ झेलने के लिए तैयार हो जाता है। तुम भागे हो अपनी बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के कारण। यह बुद्धिमानी भी बड़ा भारी पाप है क्योंकि यह मनुष्य की अन्तःप्रकृति में निहित अज्ञात शक्तियों पर विश्वास नहीं करने देती। उनकी प्रेरणाओं को यह सस्ते अनुभवलब्ध विवेचन के पलड़े पर रखकर तोलती है। यह लालसा को ज्ञान या विचार के घेरे में डालकर संकुचित करती है। पर यह समझ रखो कि मनुष्य उतना ही बड़ा हो सकता है जितना बड़ा उसका अभिलाष होगा। अतः आत्मदृष्टि उतनी ही दूर तक बँधी न रखो जितनी दूर तक तुम्हारे ज्ञान और बुद्धि के दीपक का प्रकाश पहुँचता है। अपनी लालसा को अज्ञात के अन्धकार की ओर छानबीन करने के लिए बढ़ाओ। सम्भव को जानकर उसके बाहर अनहोनी बातों और असम्भव लक्ष्यों की ओर बढ़ो। धीरे धीरे तुम देखोगे कि तुम्हारा ज्ञात की लालसा का क्षेत्र भी आप से आप वैसा ही व्यापक हो जायगा जैसा आत्मा का। इस प्रकार सृष्टि का उद्देश्य पूर्ण हो जायगा।"

इस प्रकार हज़रत ईसा के मुँह से रहस्यवाद के सिद्धान्त-पक्ष का

निरूपण कराया गया है। इसका निचोड़ यही है कि लालसा को व्यक्त और ज्ञात के बाहर, अव्यक्त और अज्ञात तक ले जाना चाहिए। इस कथन पर विचार करने के पहले लालसा या अभिलाष का स्वरूप निश्चित कर लेना चाहिए। लालसा ऐसी वस्तुओं के प्रति होती है जिन की प्राप्ति या साक्षात्कार से सुख और आनन्द होता है। इस जगत् में सुख और आनन्द दुःख और क्लेश के साथ मिला-जुला पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि जितना आनन्द, जितना सुख-सौन्दर्य इस जगत् में देखा जाता है उतने से मनुष्य की भावना परितृप्त नहीं होती। वह सुख-सौन्दर्य को अधिक पूर्ण रूप में देखा चाहती है। भावना या कल्पना को इस पूर्णता के अवस्थान के लिए चार क्षेत्र मिल सकते हैं—

(१) इस भूलोक के बाहर, पर व्यक्त जगत् के भीतर ही किसी अन्य लोक में।

(२) इस भूलोक के भीतर ही, पर अतीत के क्षेत्र में।

(३) इस भूलोक के भीतर ही, पर भविष्य के गर्भ में।

(४) इस गोचर जगत् के परे अभौतिक और अव्यक्त के क्षेत्र में।

१—इन चारों क्षेत्रों के भीतर ले जाकर मनुष्य अपनी सुख-सौन्दर्य और मंगल की भावना को पूर्णता या पराकाष्ठा तक पहुँचाने का थोड़ा या बहुत प्रयत्न करता रहा है। इनमें से प्रथम क्षेत्र की ओर मनुष्यजाति का ध्यान स्वभावतः सबसे पहले गया। पृथ्वी पर रहकर भी मनुष्य ने व्यक्त जगत् की अनन्तता का प्रत्यक्ष अनुभव किया। अनन्त आकाश के बीच नक्षत्रों के रूप में अनन्त लोकों का निश्चय उसे सहज में हो गया। वहीं पर कहीं उसकी भावना ने स्वर्ग आदि पुण्य लोकों का अवस्थान किया जहाँ जरा-मृत्यु का भय नहीं; दुख, क्लेश, भय का नाम नहीं; आनन्द ही आनन्द है—आनन्द भी ऐसा-वैसा नहीं नन्दन-कानन का विहार। लोक-सामान्य धर्म-व्यवस्था और काव्य दोनों में इस भावना का उपयोग हुआ।

२—द्वितीय क्षेत्र में सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना उस समय से हुई जब प्राचीन इतिहास, कथा-पुराण आदि का मौखिक प्रचार

मनुष्यजाति के बीच हुआ। इन कथाओं में पूर्वकाल की वीरता, धीरता, धर्मपरायणता, सुख-समृद्धि आदि का बहुत ही मनोरंजक और अत्युक्त वर्णन रहता था जिसे सुनते सुनते भूतकाल के बीच सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की सामान्य धारणा और पुष्ट होती रही। यह धारणा पूरबी (एशियाई) जातियों में अब तक मूलबद्ध है।

३—तृतीय क्षेत्र में सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना बिल्कुल आधुनिक है। इसका प्रादुर्भाव मनुष्यजाति की स्थिति पर व्यापक दृष्टि से विचार करने की वर्त्तमान प्रवृत्ति के साथ साथ हुआ है। धर्मनीति, राजनीति, व्यापारनीति आदि के कारण मनुष्यजाति के भीतर फैली हुई विषमता, क्लेश, ताप, अन्याय, अत्याचार इत्यादि के परिहार की भावना और प्रयत्न के साथ आशा और उत्साह का संयोग करने के लिए कवियों की वाणी भी अग्रसर हुई। इस प्रकार की कविता का प्रचार योरपीय देशों में सुख-समृद्धि और स्वातन्त्र्य के संगीत के रूप में शेली के समय से लेकर अब तक जारी है। भविष्य का सुख-स्वप्न वर्त्तमान योरपीय कविता के प्रधान लक्षणों में है। यह मंगलाशा बहुत ही प्रशस्त भाव है, इसमें सन्देह नही; पर इसके सम्बन्ध में कुछ अस्वाभाविक और कृत्रिम चर्चा का प्रचार भी देखा जाता है। यह सुख-स्वप्न 'भविष्य की उपासना या भविष्य का प्रेम' कहा जाता है। वास्तव में यह प्रस्तुत जीवन का प्रेम है। आशा इसी प्रेम के संचारी के रूप में उठकर इस जीवन के पूर्ण सौन्दर्य का दर्शन इसे भविष्य के क्षेत्र में ले जाकर करती है। भविष्य के सुख-सौन्दर्य के चित्रण की प्रवृत्ति का यही मूल है।

यह चित्रण भी उसी हद तक पहुँचा दिया जाता है जिस हद तक किसी परलोक के सुख-सौन्दय का चित्रण। अबरक्रोंबे ने इस जीवन के साथ 'नित्य का संयोग' (The Eternal Wedding) किसी भविष्यकाल में, निर्विशेष और निरपेक्ष आनन्द का स्वप्न देखते हुए, इस प्रकार कराया है—

> ....So we are driven
> Onward and upward, in a wind of beauty,

Until man's race be wielded by its joy
Into some high incomparable day,
Where perfectly delight may know itself—
No longer need a strife to know itself
Only by prevailing over pain.

"हम सौन्दर्य की वायु में पड़े बराबर आगे और ऊँचे बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार मनुष्यजाति अन्त में वह अनुपम दिन देखेगी जब आनन्द अपनी अनुभूति आप अकेले कर लेगा—इस अनुभूति के लिए उसे किसी प्रकार के द्वन्द्व की अपेक्षा न होगी। आनन्द स्वयंप्रकाश होगा केवल क्लेश के परिहार के रूप में न होगा।"

पर यह कहना कि अब 'भूत के प्रेम' के स्थान पर 'भविष्य के प्रेम' ने घर किया है, एक प्रकार की रूढ़ि (Convention) या बनावट ही है। हृदय की दीर्घ वंशपरम्परा-गत वासना का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस वासना के संघटन में इतिहास, कथा, आख्यान आदि का भी बहुत कुछ योग रहता है। एक भावुक योरोपियन के लिए एथंस, रोम आदि नामों में तथा एक भावुक भारतीय के लिए अयोध्या, मथुरा, दिल्ली, कन्नौज, चित्तौड़, पानीपत इत्यादि नामों में कितना मधुर प्रभाव भरा है! अतीत का यह राग कहाँ तक उपयोगी है, इसका विचार करने हम नहीं बैठे हैं। उपयोगिता अनुपयोगिता का विचार छोड़, शुद्ध कला की दृष्टि से हम मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति के स्वरूप का विचार कर रहे हैं। मनुष्य का हृदय वास्तव में जैसा है वैसा मानकर हम चल रहे हैं। हमारे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि 'अतीत का राग' एक बहुत ही प्रबल भाव है। उसकी सत्ता का अस्वीकार किसी दशा में हम नहीं कर सकते। मनुष्य, शरीर-यात्रा के संकीर्ण मार्ग में मैले पड़े हुए अपने भावों को अतीत की पुनीत धारा में अवगाहन कराकर न जाने कब से निर्मल और स्वच्छ करता चला आ रहा है। अतीत का और हमारा साहचर्य बहुत पुराना है। उसे हम जानते हैं, पहचानते हैं इसी लिए प्यार करते हैं। भविष्य को हम नहीं जानते, उसको हमारी

जान-पहचान तक नहीं। उसके साथ प्रेम कैसा ? परिचय के बिना प्रेम हम नहीं मानते। प्रेम के लिए परिचय चाहिए—चाहे पूरा, चाहे अधूरा।

४—अब इस गोचर-जगत् के परे अभौतिक, अव्यक्त और अज्ञात क्षेत्र को लीजिए। सुख-सौन्दर्य की पूर्ति के लिए जो तीन क्षेत्र ऊपर निर्दिष्ट किए गए उनमें सबसे अज्ञात भविष्य का क्षेत्र है। उसके अन्तर्गत हम दिखा चुके हैं कि जो 'भविष्य का प्रेम' कहा जाता है वह वास्तव में प्रस्तुत जीवन का प्रेम है जो आशा का संचरण कराके कवि को भविष्य सुख-सौन्दर्य के चित्रण में प्रवृत्त करता है। वही बात यहाँ भी है। वास्तव में यह इसी जगत् के सुख-सौन्दर्य की आसक्ति या प्रेम है जो संचारी के रूप में आशा या अभिलाष का उन्मेष करके, इस सुख-सौन्दर्य को किसी अज्ञात या अव्यक्त क्षेत्र में ले जाकर पूर्ण करने की ओर प्रवृत्त करता है। अतः तत्त्वदृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात की लालसा' कोई भाव ही नहीं है। यह केवल 'ज्ञात की लालसा' है जो भाषा की छिपानेवाली वृत्ति के सहारे 'अज्ञात की लालसा' कही जाती है।

अपने सुख-सौन्दर्य की भावना को पूर्णता पर पहुँचाने के लिए इस क्षेत्र की ओर पहले पहल दृष्टि करनेवाले सूफ़ी थे। उनकी भावुकता इस जगत् की ऐसी विचित्र और रमणीय रूप-विभूति को केवल ईश्वर की कृति या रचना मानने से तृप्त नहीं हुई। किसी के बनाए खिलौने की सुन्दरता देख हम चाहे जितने मुग्ध हों—इतने मुग्ध हों कि बनानेवाले का हाथ चूमने को जी चाहे—पर हमरा प्रेम उस (बनानेवाले) से दूर ही दूर रहेगा। इससे सूफ़ियों ने इस प्रत्यक्ष रूप-विभूति को ईश्वर की कृति न कहकर उसकी छाया या प्रतिबिम्ब कहा। किस प्रकार इस 'प्रतिबिम्बवाद' के साथ 'अभिव्यक्तिवाद' का संयोग करके उन्होंने अपने काव्यक्षेत्र में कृत्रिमता न आने दी, इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ प्रस्तुत विषय है सुख-सौन्दर्य की भावना को अव्यक्त और अभौतिक क्षेत्र में ले जाकर पूर्णता को पहुँचाना। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि सूफ़ी-कविता इस

काया के बीच में ही—इस दृश्य जगत् के भीतर ही—उस प्रियतम की झलक देखने-दिखाने में प्रवृत्त रही है। अव्यक्त के क्षेत्र में सौन्दर्य का अनन्त सागर, आनन्द की अपरिमित राशि, प्रेम-वासना की असीम तृप्ति का विवरण देने बहुत ही कम गई है। भारतवर्ष में निर्गुण-सम्प्रदाय के भीतर जो सूफ़ी-भावना प्रकट हुई उसमें अलबत यह प्रवृत्ति कुछ दिखलाई पड़ती है। कारण यह है कि भारतीय काव्यक्षेत्र में उसे अरबी-फ़ारसी के काव्यक्षेत्र की अपेक्षा अधिक रमणीय और प्रचुर रूप-विधान मिला। पर 'कल्पनावाद' के सहारे अव्यक्त और अज्ञात की सबसे अधिक झाँकियाँ विलायती 'रहस्यवाद' में ही खोली गईं।

विलायती काव्यक्षेत्र में सुख-सौन्दर्य की भावना को अज्ञात और अव्यक्त के क्षेत्र में ले जाकर पूर्णता पर पहुँचाने का इशारा किधर से मिला, थोड़ा यह भी देख लेना चाहिए। यह इशारा जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' (Idealism) से मिला, जिसके प्रवर्त्तक कांट (Kant) थे। उन्होंने मनुष्य के ज्ञान की विस्तृत परीक्षा करके यह प्रतिपादित किया कि इन्द्रियों की सहायता से मन को जिन रूपों का बोध होता है वे उसी के रूप हैं; किसी बाह्य वस्तु के नहीं। परमार्थ-पक्ष (Critique of Pure Reason) में ईश्वर, जगत् और आत्मा को पक्ष-विपक्ष दोनों के प्रमाणों के खंडन द्वारा, असिद्ध ठहराकर, व्यवहार-पक्ष (Critique of Practical Reason) में उन्होंने ईश्वर, अमर आत्मा और अनन्त जीवन सबका प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि शुद्ध-बुद्धि के द्वारा तो नाम-रूपात्मक जगत् से परे वस्तु-तत्त्व तक हम नहीं पहुँच सकते, पर व्यवहार-बुद्धि द्वारा पहुँच जाते हैं। इच्छा या कर्मेच्छा पारमार्थिक वस्तु का आभास देती है। यह न तो बुद्धि से बद्ध या नियन्त्रित है और न बाह्य जगत् के नियमों से। इस पर आदेश करनेवाले केवल नित्य और सर्वगत धर्मनियम हैं। इच्छा का यह स्वातन्त्र्य हमें नाम-रूपात्मक दृश्य जगत् से अगोचर जगत् में ले जाता है जहाँ धर्म-नियम, शुद्ध अमर आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व मिल जाता है। जीवन का चरम मंगल क्या है? न अकेला

धर्म न अकेला सुख। धर्म का सुख से कोई स्वतः सिद्ध सम्बन्ध नहीं। जीवन के चरम मंगल में धर्म और सुख दोनों की पराकाष्ठा है। अब इन दोनों का संयोग कैसे होता है? कोई मध्यस्थ चाहिए। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है। ईश्वर दोनों के बीच संयोग स्थापित करता है। इसी विचार-पद्धति से आत्मा का अमरत्व भी मानना पड़ता है। धर्म की पराकाष्ठा और सुख की पराकाष्ठा के साधन के लिए यह अल्पकालिक जीवन काफ़ी नहीं है। अतः अनन्त जीवन मानकर चलना पड़ता है। *

कट्टर दार्शनिक कांट के इस व्यवहार-पक्ष-निरूपण पर वैसी आस्था नहीं रखते। कांट अपने परमार्थ-पक्ष-निरूपण के लिए ही प्रसिद्ध है। विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि कांट का व्यवहार-पक्ष-निरूपण उसी दृष्टि से हुआ है जिस दृष्टि से शंकराचार्य का; पर दोनों में उतना ही अन्तर है जितना भारत और योरप में। व्यवहार-पक्ष में शंकराचार्य ने जिस उपासना-गम्य ब्रह्म का अवस्थान किया है वह सोपाधि या सगुण ब्रह्म है; अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता नहीं। अव्यक्त, निर्गुण, निर्विशेष (Absolute) ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उपासना जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी; अव्यक्त और निर्गुण की नहीं। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है; निर्गुण और निर्विशेष का नहीं। उसके भीतर सेव्य-सेवक भाव छिपा हुआ है। स्थूल आकार मात्र हटाकर दया, अनुग्रह, प्रेम, सौन्दर्य इत्यादि में योरपवाले चाहे अभौतिक, अगोचर, अव्यक्त या परा सत्ता की प्राप्ति समझ लें; पर सूक्ष्म भारतीय दार्शनिक दृष्टि इन सबको प्रकृति के भीतर ही लेगी। दया, अनुग्रह, औदार्य आदि मन की वृत्तियाँ हैं जो प्रकृति का ही विकार है। इसी प्रकार सौन्दर्य, माधुर्य आदि भूतों के गुण हैं। ये सब गोचर के अन्तर्भूत हैं, क्योंकि मन जो इनका बोध करता है भीतरी इन्द्रिय ही है। भारतीय और योरपीय दृष्टि के इस भेद को ध्यान में रखना चाहिए।

* विशेष देखिए 'विश्व-प्रपंच' की भूमिका।

भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है; अभिलाष या लालसा नहीं। यदि कहा जाय कि 'मोक्ष' की इच्छा का फिर क्या अर्थ होगा? इसका उत्तर यह है कि मोक्ष या मुक्ति केवल अभाव-सूचक (Negative) शब्द है, जिसका अर्थ है छुटकारा। जिससे मोक्षार्थी छुटकारा चाहता है वह दुःख-क्लेशादि का संघात उसे ज्ञात होता है। छुटकारे के पीछे क्या दशा होगी, इसका न तो उसे कुछ ज्ञान होता है और न अभिलाष हो सकता है। इसी से हमारे यहाँ के भक्त लोग, जो ब्रह्म के सगुण रूप में आसक्त होते हैं, मुक्ति के मुँह में धूल डाला करते हैं। जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है। उसका ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि का कोई लगाव नहीं होता। उसका सम्बन्ध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाष रतिभाव का एक अंग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान् के सान्निध्य का अभिलाष, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष यह बिल्कुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत माननेवाले देशों में की गई है। इसकी साम्प्रदायिकता हम आगे चलकर दिखाएँगे। यहाँ इतना ही कहने का प्रयोजन है कि अव्यक्त, अगोचर ज्ञानकांड का विषय है। हमारे यहाँ न वह उपासनाक्षेत्र में घसीटा गया है; न काव्यक्षेत्र में। ऐसी बेढब जरूरत ही नहीं पड़ी।

उपासना के लिए इन्द्रिय और मन से परे ब्रह्म को पास लाने की जरूरत हुई। कहीं तो वह ईश्वर के रूप में केवल मन के पास लाया गया—अर्थात् उसके रूप, आकार आदि की भावना न करके केवल दया, दाक्षिण्य, प्रेम, औदार्य आदि की ही भावना की गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह केवल अन्तःकरण-ग्राह्य भावना भी गोचर भावना ही है। कहीं इसके आगे बढ़कर विष्णु, शिव इन देव-रूपों में—अर्थात मनुष्य से ऊँची कोटि में—बाह्य-करण-ग्राह्य भावना भी हुई। भारतीय भक्ति-भावना यहीं तक तुष्ट न हुई। बड़े साहस के साथ

आगे बढ़कर उसने नर में ही नारायणत्व का दर्शन किया। राम और कृष्ण को लेकर भक्तिकाव्य का प्रवाह बड़े वेग से चल पड़ा। सारांश यह कि सान्निध्य का अभिलाष अव्यक्त और ज्ञात की ओर ही आकर्षित होता हुआ बढ़ा है और उसी को उसने अपना चरम लक्ष्य भी रखा है। यहाँ के भक्तों का साध्य कैवल्य नहीं रहा।

अब यह देखना चाहिए कि मनुष्य अपनी सुख-सौन्दर्य-भावना को जब पूर्णता के लिए चरम सीमा पर पहुँचाता है तब क्या वह सचमुच व्यक्त, भौतिक या प्राकृतिक के परे हो जाता है? उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वह इनके भीतर ही रहता है। भावना या कल्पना में आई हुई संघटित रूप-योजना, चाहे वह कितनी ही दूरारूढ़ हो, व्यक्त प्रकृति-विकार ही रहेगी। अब रही असीम-ससीम और नित्य-अनित्य की बात। हम पहले कह चुके हैं कि समष्टि-रूप में यह विश्व या व्यक्त जगत् अनन्त और शाश्वत है। ब्रह्म के मूर्त्त-अमूर्त्त दो रूपों में से मूर्त्त और सत् को जो मर्त्य कहा है वह* केवल सतत गतियुक्त या परिवर्त्तनशील के अर्थ में, सत्ता के अभाव के अर्थ में नहीं। अतः असीम और नित्य के लिए अव्यक्त और अगोचर में जाने की कोई जरूरत नहीं। ब्रह्म के दोनों रूप असीम और नित्य हैं। इस मूर्त्त विराट् के भीतर न जाने कितने लोक, ब्रह्मांड, सौरचक्र बनते बिगड़ते रहते हैं, पर इसकी रूप-सत्ता ज्यों की त्यों रहती है। अबरक्रोंबे ने अपनी 'निकास' (An Escape) नाम की कविता में असीम और ससीम के अभिलाष के जिस द्वन्द्व का वर्णन बड़े रमणीय रूप-विधान के साथ किया है, वह वास्तव में—भारतीय दृष्टि से—व्यक्त और गोचर के भीतर ही है।†

---

* द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यञ्चामृतञ्च, स्थितञ्च यच्च, सच्च त्यच्च।—मूर्त्तामूर्त्तब्राह्मण (बृहदारण्यकोपनिषद्)। दृश्य या मूर्त्त के लिए 'सत्' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में बहुत जगह हुआ है।

† Desire of infinite things, desire of finite—
......' tis the wrestle of the twain makes man.

हमारा कहना यही है कि हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाष, जो कुछ प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। प्रतिबिम्बवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्यक्षेत्र में एक अनावश्यक आडम्बर खड़ा करना है। यदि यह कहा जाय कि सदा बदलते रहनेवाले इस दृश्य प्रसार की तह में तो सदा एकरस रहनेवाली अव्यक्त सत्ता है ही, अतः जिस अनुराग के साथ प्रकृति की भव्य रूप-योजना की जाती है उसे उसी अव्यक्त शक्ति या सत्ता के प्रति कहने में क्या हर्ज है, तो इसका उत्तर यह है कि इससे भावक्षेत्र में असत्य का प्रचार होता और पाषंड का द्वार खुलता है। यदि कोई चटोरा आदमी कोई बहुत ही मीठा फल खाकर जीभ चटकारता हुआ उसका बड़े प्रेम से वर्णन करे और पूछने पर कहे कि मेरा लक्ष्य उस फल की ओर नहीं, उस वृक्ष के मूल या बीज की ओर है जिसका वह फल है, तो उसके इस कथन का क्या मूल्य होगा? जो यह भी नहीं जानता कि 'ब्रह्मवाद' और 'कविता' किन चिड़ियों के नाम

—As two young winds schooled' mong the slopes
and caves
Of rival hills that each to other look.
Across a sunken tarn, on a still day,
Run forth from their sundered nurseries, and
meet
In the middle air.........
And when they close, their struggle is called man,
Distressing with his strife and flurry the bland
Pool existence, that lay quiet before
Holding the calm watch of Eternity.

हैं, जो अँगरेज़ी की अन्धी नक़ल पर बनी बँगला की कविताओं तथा वैष्णव कवियों की बंग-समीक्षाओं तक ही सारी दुनिया खतम समझता है, वह यदि मुँह बना बनाकर कहने लगे कि "जब मैं ब्रह्मवाद की कोई कविता देखता हूँ तब हर्ष से नाच उठता हूँ" तो एक सुशिक्षित सुननेवाले पर क्या असर होगा ?

अब यहाँ पर थोड़ा यह भी विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि भाव के क्षेत्र में परोक्ष की 'जिज्ञासा' का क्या उपयोग हो सकता है। स्वाभाविक रहस्य-भावना में—जिसका किसी वाद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं—इसका कभी कभी बहुत सुन्दर उपयोग होता है। वहाँ पर यह प्रकृति के क्षेत्र के किसी अभिव्यक्त सौन्दर्य या माधुर्य से उठे हुए आह्लाद की अनुभूति की व्यंजना करता है। जैसे, शिशु की मधुर मुसकान पर मुग्ध होकर यदि कोई कवि कहे कि "इसके अधरों पर किस आनन्द-लोक की मधुर स्मृति संचरित हो रही है ?" सौरभपूर्ण कुसुम-विकास देख यदि कहा जाय कि "यह किस सुख-सौन्दर्य की अनन्त राशि से चोरी करके भाग आया है" तो प्रस्तुत माधुर्य या सुख-सौन्दर्य के प्राचुर्य के निमित्त बड़ा सुन्दर औत्सुक्य व्यंजित होगा। यह औत्सुक्य या अभिलाष अव्यक्त या अज्ञात के प्रति कभी नहीं कहा जा सकता, यह व्यक्त या ज्ञात के प्रति ही होगा। कवि को अपने सामने उपस्थित माधुर्य या सुख-सौन्दर्य इतना अच्छा लग रहा है कि वह इस भूलोक के अतिरिक्त किसी और—व्यक्त और गोचर ही—लोक की भावना करता है जहाँ इस प्रकार के सुख-सौन्दर्य का दर्शन इतना विरल न हो, बराबर चारों ओर देखने को मिला करे। इसमें न कहीं असीम का अभिलाष है, न अज्ञात की लालसा। यह उसी पुरानी स्वर्ग-भावना का आधुनिक सभ्यता के अनुकूल पड़ता हुआ रूप है। स्वर्ग के पुराने निश्चित विवरण में, आधुनिक परिष्कृत रुचि के अनुसार, जो भद्दापन है वह इस अनिश्चित भावना में दूर हो जाता है।

शेली ने अपनी 'जिज्ञासा' (The Question) नाम की कविता बड़ी सुन्दर जिज्ञासा के साथ समाप्त की है। स्वप्न में वे वसन्त-विकास

और सौरभ से पूर्ण एक अत्यन्त रमणीय नदी-तट पर पहुँचते हैं। उस व्यक्त और गोचर स्थल का ही बहुत सम्बद्ध और संश्लिष्ट चित्रण सारी कविता में हुआ है। अन्त में जाकर वे कहते हैं कि "मैंने फूलों को चुन चुनकर बहुत सुन्दर स्तवक तैयार किया और बड़े आह्लाद के साथ वहाँ दौड़ा गया जहाँ से आया था कि उसे अर्पित करूँ। पर अरे! किसे?" इस 'किसे' में अद्वैत का कैसा सुन्दर आभास मात्र है! 'वाद' का कोई विस्तार नहीं है।

I made a nosegay...........
Kept these imprisoned children of the Hours
Within my hand,—and then elate and gay,
I hastened to the spot whence I had come,
That : I might there present it—O ! to Whom ?

इस प्रकार की स्वाभाविक और सच्ची रहस्य-भावना का माधुर्य प्रत्येक सहृदय स्वीकार करेगा। पर जब किसी वाद के सहारे वेदना की तरी पर सवार होकर अन्धड़ और अन्धकार के बीच असीम की ओर यात्रा होगी, सामने अलौकिक ज्योति फूटती दिखाई देगी, लोक-लोकान्तर और कल्प-कल्पान्तर के समाहृत अरुणोदय में असीम-ससीम के मिलन पर विश्व-हृदय की तन्त्री के सब तार झंकारोत्सव करने लगेंगे, आप ही आप को खोजने का स्वप्न टूटने पर अट्टहास होने लगेगा, तब सहृदयता और भावुकता तो कोई और ठिकाना ढूँढ़ेगी; हाँ, अज्ञानोपासना सिद्धता का मुकुट या पैगम्बरी का चौगोशिया ताज पहनाने के लिए ठहरे तो ठहरे।

सारांश यह कि जहाँ तक अज्ञात की ओर अनिश्चित संकेत मात्र रहता है वहाँ तक तो प्रकृत काव्यदृष्टि रहती है पर जब उसके आगे बढ़कर उस अज्ञात को अव्यक्त और अगोचर कहकर उसका चित्रण होने लगता है, उसका पूरा ब्योरा दिया जाने लगता है, तब लोकोत्तर दिव्य दृष्टि का दावा सा पेश होता हुआ जान पड़ता है। इस दावे का हृदय पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। एक ओर—श्रोता या पाठक के

पक्ष में—तो इससे अज्ञान-प्रियता का अनुरंजन होता है ; दूसरी ओर—कवि के पक्ष में—उस अज्ञान-प्रियता से लाभ उठाकर अहंकार-तुष्टि का अभ्यास पड़ता है। पहुँचे हुए सिद्ध या ब्रह्मदर्शी बननेवाले बहुत से साधु शास्त्रों की सुनी-सुनाई बातों को—उनकी कुछ अगाड़ी-पिछाड़ी खोल—पहेली के रूप में करके गँवारों को चकित किया करते हैं। यह प्रवृत्ति शिक्षितों और पढ़े-लिखे लोगों में और भी अनर्थ खड़ा करती है। यदि कोई व्यक्ति अभिज्ञान-शाकुन्तल की आध्यात्मिक व्याख्या करे, मेघ की यात्रा को जीवात्मा का परमात्मा में लीन होने का साधन-पथ बतावे, तो कुछ लोग तो विरक्ति से मुँह फेर लेंगे, पर बहुत से लोग आँखें फाड़कर काष्ठकौशिक की तरह ताकते रह जायँगे।

कौन कविता सच्ची रहस्य-भावना को लेकर चली है और कौन वादग्रस्त आडम्बर मात्र है, यह पहचानना कुछ कठिन नहीं है। ऊपर जो पहचान बताई गई है वह वर्ण्य वस्तु (Matter) के सम्बन्ध में है। वर्णन-प्रणाली (Form) की कुछ पहचान आगे कही जायगी।

एक ही कवि कभी वादग्रस्त होकर अपने को लोक से परे प्रकट करने का शब्द-प्रयत्न करता है ; कभी भाव की स्वच्छ भूमि पर विचरण करता है। वही अवरक्रांबे जो कभी वादग्रस्त होकर 'चेतना नामक कोने से बाहर' की बात कहने जाता है जब लोकवादी (Humanitarian) के रूप में हमारे सामने आता है, या विशुद्ध काव्यदृष्टि का प्रमाण देता है, तब उसकी सच्चाई में सन्देह करने की कोई जगह नहीं रह जाती। यही बात श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्बन्ध में भी ठीक समझनी चाहिए। उनकी रहस्यवाद की वे ही कविताएँ रमणीय हैं जो लोकपक्ष-समन्वित हैं ; जैसे, 'गीतांजलि' का यह पद—

> जो कुछ दे तू हमें उसी से काम हमारा सरता है।
> कमी न होती उसमें कुछ वह पीछे तुझपर फिरता है।
> सरिताएँ सब बहती बहती जग-हित आतीं जातीं।
> अविच्छिन्न धारा से तेरे पद धोने को फिर धातीं।

सभी कुसुम अपने सौरभ से सकल सृष्टि को महकाते।
तेरी पूजा में वे अपना महायोग हैं रच पाते।
जग वंचित हो जिससे ऐसी तेरी पूजन-वस्तु नहीं।
जग-हित में आई न वस्तु जो तव पूजन की नहीं, नहीं।

'तू ने मुझे असीम बनाया है' ऐसी कविताओं में यह बात नहीं है। इस ढंग की कविताओं के स्वरूप का कुछ उद्घाटन स्वर्गीय द्विजेन्द्र-लाल राय ने अपनी समीक्षाओं में किया था।

भारतीय काव्यदृष्टि के निरूपण में हम दिखा चुके हैं कि भारतवर्ष में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यही अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है। मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के भीतर ही उसका संचार होता है। 'चेतना के कोने के बाहर' न वह झाँकने जाती है, न जा ही सकती है। वहीं पर हम यह भी कह चुके हैं कि अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर और निर्विशेष (Static and Absolute) सौन्दर्य या मंगल कहीं नहीं है। वह केवल किसी वाद के भीतर ही मिल सकता है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में गत्यात्मक सौन्दर्य और गत्यात्मक मंगल ही है। सौन्दर्य-मंगल की यह गति नित्य है। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। रवीन्द्र बाबू के दोस्त ईट्स (W. B. Yeats) एक ओर कट्टर देशभक्त और आयर्लैंड की अनन्य आराधना प्रवर्त्तित करनेवाले हैं; दूसरी ओर ब्लेक (Blake) के साम्प्रदायिक और सिद्धान्ती रहस्यवाद का पूरा समर्थन करनेवाले। वे भी जब वादमुक्त होकर काव्य की शुद्ध सामान्य भूमि पर आते हैं तब भारतीय दृष्टि के अनुसार सापेक्ष गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य की नित्यता और अनन्तता का अनुभव करते हैं। अपनी 'गुलाब' शीर्षक कविताओं में एक स्थल पर वे साफ़ कहते हैं—

Red Rose, proud Rose, sad Rose of all my days !

× × × ×

Come near, that no more blinded by man's fate,
I find under the boughs of love and had hate,

In all poor foolish things that live a day,
Eternal beauty wandering on her way.

"लाल गुलाब, गर्वीले गुलाब, मेरे सब दिन के उदास गुलाब! पास आओ, जिसमें मनुष्य की गति देखकर मुझमें जो अन्धापन आ जाता है वह दूर हो और मैं राग और द्वेष की नाना शाखाओं के तले बैठा हुआ बेचारी इन सब क्षण भर रहनेवाली मुग्ध वस्तुओं में अनन्त सौन्दर्य की अनन्त गति का दर्शन करूँ।"

कविता के मूल में भाव या मनोविकार ही रहते हैं, काव्य की आत्मा रस ही है, यह बात इतनी पुरानी पड़ गई है कि नवीनता के बहुत से अभिलाषी, तथ्यातथ्य की बहुत परवा छोड़, इसके स्थान पर कोई और बात कहने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। जगन्नाथ पंडितराज ने रस के स्थान पर 'अर्थ की रमणीयता' ग्रहण की; पर रमणीयता भी रसात्मकता से सम्बद्ध है। मन का रमना किसी भाव में लीन होना ही है। हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है। विलायती साहित्य में 'कल्पना' शब्द की बड़ी धूम देख कुछ लोग कभी कभी कह देते हैं कि 'रसात्मक वाक्य काव्य होता है' इस लक्षण में कल्पना-पक्ष बिल्कुल छूट गया है; केवल भाव- (Emotion) पक्ष आया है। पर जो लोग रस-पद्धति को अच्छी तरह समझते हैं और आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव (Emotion, sentiment) के स्वरूप से भी परिचित हैं, उनके निकट इस कथन का कोई अर्थ नहीं है; वह एक वृत्ति-चक्र (System) है जिसके अन्तर्गत प्रत्यय (Cegnition), अनुभूति (Feeling), इच्छा (Conation), गति या प्रवृत्ति (Tendency), शरीरधर्म (Symptoms) सबका योग रहता है। हमारे यहाँ रस निष्पन्न करनेवाली पूर्ण भाव-पद्धति में ये सब अवयव रखे हुए हैं। विभावों और अनुभावों की प्रतिष्ठा कवि की कल्पना द्वारा ही होती है और श्रोता या पाठक भी उनकी मूर्ति या रूप का ग्रहण अच्छी कल्पना के बिना पूरा पूरा नहीं कर सकता। विभाव और अनुभाव कल्पनासाध्य हैं।

किसी भाव की रसात्मक प्रतीत उत्पन्न करने के लिए कविकर्म के दो पक्ष होते हैं—अनुभाव-पक्ष और विभाव-पक्ष। अनुभाव-पक्ष में आश्रय के रूप, चेष्टा और वचन का और विभाव-पक्ष में आलम्बन के रूप, चेष्टा और वचन का विन्यास होता है। इस दृष्टि से शृंगाररस में स्त्रियों के जो हाव या अलंकार माने गए हैं वे विभाव-पक्ष के अन्तर्गत होंगे, अनुभाव-पक्ष के नहीं। नायिकाओं में अलंकार की योजना उनकी मनोमोहकता बढ़ाने के लिए—उन्हें और मनोहर रूप प्रदान करने के लिए—होती है, भाव की व्यंजना के उद्देश्य से नहीं। नायिका को आलम्बन मानकर, उद्दीपन की दृष्टि से ही, उसमें उन चेष्टाओं का विधान होता है जो हाव और अलंकार कहलाती है। अनुभाव और विभाव दोनों पक्षों के विधान के लिए भी और सम्यक् ग्रहण के लिए भी कल्पना-शक्ति अपेक्षित है। विधान के लिए कवि में 'विधायक कल्पना' अपेक्षित होती है और सम्यक् ग्रहण के लिए पाठक या श्रोता में 'ग्राहक कल्पना'।

रसात्मक प्रतीति एक ही प्रकार की नहीं होती। दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रन्थों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने से, मिलती है। भारतीय भावुकता काव्य के दो प्रकार के प्रभाव स्वीकार करती है—

(१) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना।

(२) जिस भाव की व्यंजना हो उनमें लीन न होना; पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।

दूसरे प्रकार के प्रभाव को मध्यम स्थान प्राप्त है। पूर्णरस की अनुभूति प्रथम प्रकार का प्रभाव है। जिन्हें साहित्य में स्थायी भाव कहते हैं केवल उन्हीं की अनुभूति पूर्णरस के रूप में होती है। वे ही ऐसे भाव हैं जो व्यंजित होने पर पाठक या श्रोता के हृदय में भी उत्पन्न होते हैं। यह नहीं है कि चाहे जिस भाव का विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा विधान किया जाय वह पूर्णरस के रूप में अनुभूत होगा। असूया वा व्रीड़ा को यदि हम स्वतन्त्र भाव के रूप में लेकर उसका विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा वर्णन करें, तो भी सुननेवाले को ईर्ष्या या

लज्जा का अनुभव न होगा। इनकी अच्छी से अच्छी व्यंजना को भी वह उसी रूप में ग्रहण करेगा कि "हाँ! बहुत ठीक है। ईर्ष्या या व्रीड़ा में ठीक ऐसे ही वचन मुँह से निकलते हैं, ऐसी ही चेष्टाएँ होती हैं, ऐसी ही वृत्ति हो जाती है"। सारांश यह कि श्रोता या पाठक भाव की व्यंजना का अनुमोदन मात्र करेगा; उस भाव की अनुभूति में मग्न न होगा।

पूर्णरस की अनुभूति—अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना—क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है, इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्यदृष्टि में जब हम जगत् को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते, मनुष्यमात्र के भावों के आलम्बनों में हृदय लीन हो जाता है, जहाँ हमारी भावसत्ता का सामान्य भावसत्ता में लय हो जाता है, वही पुनीत रसभूमि है। आश्रय के साथ वह तादात्म्य, आलम्बन का वह साधारणीकरण, जो स्थायीभावों में होता है, दूसरे भावों में—चाहे वे स्वतन्त्र-रूप में भी आएँ—नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुमोदन मात्र करते हैं। इस अनुमोदन में भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं।

आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन के साथ साधारणीकरण सर्वत्र व्यंजना की प्रगल्भता और प्रचुरता पर ही अवलम्बित नहीं होता। या तो आलम्बन स्वभावतः ऐसा हो, या उसका चित्रण इस रूप में हो, अथवा लोक में उसकी ख्याति ऐसी हो कि वह मनुष्यमात्र के किसी भाव को आकर्षित कर सके तभी पूर्ण रसानुभूति के उपयुक्त साधारणीकरण होगा। अधिकतर कविता स्वभावतः अत्यन्त सामान्य आकर्षणवाले विषयों या आलम्बनों को लेकर होती है। दाम्पत्य प्रेम या शृंगार की कविता की अधिकता का एक यह भी कारण है कि अत्यन्त सामान्य-रूप में उसका आलम्बन—पुरुष के लिए स्त्री, स्त्री के लिए पुरुष—मनुष्य क्या प्राणिमात्र को आकर्षित करता है। उसकी आलम्बनता स्त्री-जाति और पुरुष-जाति के बीच "निसर्गिक आकर्षण" की बड़ी चौड़ी नीवँ पर ठहरी है। यहाँ तक कि वर्णन न होने पर भी उसका आक्षेप सहज में हो जाता

है। दूसरे भावों के आलम्बनों में कुछ विशिष्टता अपेक्षित होती है, पर साधारणीकरण शीघ्र हो जाता है। क्रोध के आलम्बन का साधारणीकरण सब दशाओं में नहीं होता। यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र आश्रय के क्रोध का पात्र मनुष्यमात्र के क्रोध का पात्र हो। रौद्ररस में आलम्बन का साधारणीकरण पूरा-पूरा तभी हो सकता है, जब कि वह अपनी क्रूरता, अन्याय, अत्याचार आदि के कारण मनुष्यमात्र के क्रोध का पात्र बनाया जा सके।

पूर्णरस में लीन करनेवाले वाग्विधान में भी यह बात देखी जाती है कि जहाँ वह धारा के रूप में कुछ दूर तक चलता है, वहीं पूरी तन्मयता प्राप्त होती है। जहाँ सहृदय और सुकंठ कथावाचक सहस्रों श्रोताओं को किसी भाव में बहुत देर तक मग्न किए रहते हैं, जहाँ आल्हा गानेवाले सैकड़ों सुननेवालों को घंटों वीरदर्प से पूर्ण किए रहते हैं, वहाँ भेदभूमि से परे एक सामान्य हृदय-सत्ता की झलक दिखाई पड़ती है। भावों का ऐसा ही अभ्यास शील-निर्माण में सहायक होता है। रामायण, भागवत आदि की कथा सुनकर लौटे हुए लोगों के हृदयों पर भावों का कुछ प्रभाव कुछ काल तक रहता है। खेद है कि हृदय के व्यायाम और परिष्कार के लिए जो संस्थाएँ हमारे समाज में प्रतिष्ठित थीं उनकी ओर से हम उदासीन हो रहे हैं।

मुक्तक कविताओं में इस प्रकार मग्न करनेवाली रसधारा नहीं चलती; छींटे उछलते हैं। उनका प्रभाव क्षणिक, अतः अधिकतर मनोरंजन या दिलबहलाव के रूप में होता है। राजाओं की सभा में जाकर जब से कवि लोग उनके मनबहलाव का काम करने लगे तब से हमारे साहित्य में उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण मुक्तकों का प्रचार बढ़ने लगा। भोज ऐसे राजाओं के सामने बात बनानेवाले पद्यकार बातों की फुलझड़ी छोड़कर लाखों रुपये पाने लगे। जब क्षणिक मनोरंजन या दिलबहलाव मात्र उद्देश्य रह गया तब कुछ अधिक कुतूहल-वर्द्धक सामग्री अपेक्षित हुई। फारस की महफ़िली शायरी का सा ढंग यहाँ की कविता ने भी पकड़ा। पर फारस की शायरी अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी संवेदनात्मक रही; उसमें

भाव-पक्ष की प्रधानता रही। किन्तु यहाँ बाहरी आडम्बरों की अधिकता हुई ; हृदय-पक्ष बहुत कुछ दब गया। फुटकल कविता अधिकतर सूक्ति के रूप में आ गई।

इसी सम्बन्ध में लगे हाथों यह भी विचार कर लेना चाहिए कि रीति, लक्षण, अलंकार आदि काव्य में किस रूप में सहायक हो सकते हैं और किस रूप में बाधक। पहली बात तो ध्यान देने की यह है कि लक्षण-ग्रन्थों के बनने के बहुत पहले से कविता होती आ रही थी। उन्हीं कविताओं को लक्ष्य करके लक्षण बनाए गए। इससे स्पष्ट है कि काव्य की रचना उन पर अवलम्बित नहीं। ये लक्षण आदि वास्तव में काव्य-चर्चा की सुगमता के लिए बने। पर बहुत सी काव्य-रचना हमारे यहाँ इन्हीं लक्षणों के भीतर आ जाने को ही सब कुछ मानकर होने लगी। कुछ सजीवता न रहने पर भी श्लेष, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि की कसी हुई भरतो, तथा विभाव, अनुभाव और संचारी की रस्म-अदाई पर ही वाह वाह करने की चाल पड़ गई। कुछ कुछ इसी प्रकार की दशा जब योरप में हुई और किसी काव्य की उत्तमता का निर्णय साहित्य की बँधी हुई रीति-विधि के अनुसार ही होने लगा, तब प्रभाववादी (Impressio-nists) उठ खड़े हुए, जिन्होंने सुझाया कि किसी काव्य की उत्तमता की सच्ची परख यही है कि वह हृदय पर कैसा प्रभाव डालता है; उससे किस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न होती है।

प्रभाववादियों के अनुसार किसी काव्य की ऐसी आलोचना कि "यहाँ रूपक का निर्वाह बहुत अच्छा हुआ है, यहाँ यतिभंग है, यहाँ रसविरोध है, यहाँ पूर्णरस है, यहाँ च्युतसंस्कृति या पतत्प्रकर्ष है" कोई आलोचना नहीं। मान लीजिए कि कोई सुन्दर काव्य हमारे सामने है। उसे पढ़ने में हमें आनन्द की गहरी अनुभूति हो रही है। बस यही हमारा आनन्द ही हमारा निर्णय है। इससे बढ़कर और निर्णय क्या हो सकता है? इसके आगे हम बहुत करेंगे तो उस आनन्द की विवृति करेंगे कि उक्त काव्य का हमारे हृदय पर यह प्रभाव पड़ता है, उससे ये ये अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। यह ठीक है कि दूसरे लोग उसी काव्य

से दूसरे प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त करेंगे और उन्हें और ही ढंग से प्रकट करेंगे। करें; प्रत्येक सहृदय को अधिकार है कि वह उसके सम्बन्ध में अपनी अनुभूतियाँ प्रकट करे। इस प्रकार एक ही काव्य पर भिन्न भिन्न प्रकार के और कई कला-ग्रन्थ तैयार हो जायँगे। वे सब ग्रन्थ उस काव्य से और ही वस्तु होंगे, यह अवश्य है। पर यही आलोचना-कला है। इसके आगे समालोचना जायगी कहाँ?

प्रभाववादी के उपर्युक्त कथन पर यदि कोई कहे तो कह सकता है कि "हमें तुमसे प्रयोजन नहीं; उस काव्य से है। तुम्हारे भीतरी स्वास्थ्य को जानने से हमें उस काव्य के रसानुभव में क्या सहायता पहुँचेगी? तुम्हारी आलोचना तो हमारा ध्यान उस काव्य पर से हटाकर तुम पर और तुम्हारी अनुभूतियों पर ले जाती है।" इस पर शायद वह यह कहे कि "इसी प्रकार तो और ढंग की समालोचनाएँ—निर्णयात्मक (Judicial), ऐतिहासिक (Historical) मनोवैज्ञानिक (Psycholcgical) इत्यादि*—भी ध्यान हटाती हैं"। यों यह वाद-प्रतिवाद और भी आगे बढ़ सकता है। पर हम समझते हैं कि उसे यहाँ पर आकर रुक जाना चाहिए कि समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशान्त रुचि दोनों अपेक्षित हैं। न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वत्ता से सम्बन्ध रखनेवाला निर्णयात्मक आलोचन (Judicial Critcism) और रुचि से सम्बन्ध रखनेवाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक हैं। एक पुरुष है, दूसरी स्त्री। एक सक्रिय है, दूसरी निष्क्रिय। एक प्रतिष्ठित आदर्श को लेकर किसी काव्य की परीक्षा में प्रवृत्त होता है और उसके प्रभाव में न आकर अपनी क्रिया में तत्पर रहता है। दूसरी उस काव्य के प्रभाव को चुपचाप ग्रहण करती हुई उसी में मग्न हो जाती है।†

---

* इन सब प्रकार की आलोचनाओं के विवरण के लिए देखिए हमारा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पुस्तकाकार संस्करण)।

† In every age impressionism (or enjoyment)

यह तो आवश्यक है कि काव्य में अनुभूति या प्रभाव ही मुख्य है। पर इस अनुभूति को एक हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाना रहता है अतः साधनों की अपेक्षा होती है। निर्णयात्मक आलोचना इन साधनों की उपयुक्तता की इस दृष्टि से परीक्षा करती है कि जब साधन ही ठीक न होंगे तब साध्य सिद्ध कहाँ से हो सकता है? प्रभावात्मक आलोचना केवल यही कहती है कि साध्य सिद्ध हो गया है। यदि एक ओर साधन के सम्बन्ध में जो रीति, लक्षण, नियम आदि बने हैं उनमें पूर्णता होती और दूसरी ओर आलोचना के समय यदि हृदय लोक-सामान्य भावभूमि पर सदा पहुँच जाया करता—अपनी विशेष प्रकृति से बद्ध न रहता—तो इन दोनों प्रकार की आलोचनाओं में कोई झगड़ा न होता। पर ऐसा प्रायः होता है कि एक का निर्णय दूसरी के अनुमोदन से भिन्न पड़ता है। हृदय और बुद्धि दोनों के साथ साथ चलने से ही इन दोनों का सामंजस्य हो सकता है। सभ्य और शिक्षित समाज में निर्णयात्मक आलोचना का व्यवहार-पक्ष भी है। उसके द्वारा साधन-हीन अधिकारियों की यदि कुछ रोक-टोक न रहे तो साहित्य-क्षेत्र कूड़ा-करकट से भर जाय।

जैसा कि हम पहले कह आए हैं साहित्य के शास्त्र-पक्ष की प्रतिष्ठा काव्य-चर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिए; रचना के प्रतिबन्ध के लिए नहीं। इस दृष्टि से जब हम अपने साहित्य-शास्त्र को देखते हैं तब उसकी अत्यन्त व्यापक और प्रौढ़ व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ती है।

---

and dogmatism (or judgment) have grappled with one another. They are the sexes of criticism; × × × —The masculine criticism, that may or may not force its own standard on literature, but that never, at all events is dominated by the object of its studies; and the feminine oriticism, that responds to the lure of art with a kind of passive ecstacy.

J. E. Spingarm—'The New Criticism.'

शब्द-शक्ति और रसपद्धति का निरूपण तो अत्यन्त गम्भीर है। उसकी तह में एक ऐसे स्वतन्त्र और विशाल भारतीय समीक्षा-भवन के निर्माण की सम्भावना छिपी हुई है जिसके भीतर लाकर हम सारे संसार के सारे साहित्य की आलोचना अपने ढंग पर कर सकते हैं।

कई प्रकार के साहित्यवाद—साहित्य के बाहर के 'वाद' नहीं—हमारे यहाँ भी चले हैं, जैसे रसवाद, अलंकारवाद, ध्वनिवाद, रीतिवाद इत्यादि। बहुत से बालरुचिवाले चमत्कारवादी कवि भी हुए हैं, और आचार्य भी। नारायण पंडित ने तो यहाँ तक कह डाला है कि

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार-सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

"जब कि रस में चमत्कार ही सार है, काव्य में सर्वत्र अनूठापन ही अच्छा लगता है, तब सर्वत्र अद्भुतरस ही क्यों न कहा जाय ?" पंडित-जी ने इस बात पर ध्यान न दिया कि रस के भेद प्रस्तुत वस्तु या भाव के विचार से किए गए हैं; अप्रस्तुत या साधन के विचार से नहीं। शृंगाररस की किसी उक्ति में, उसके शब्दविन्यास आदि में जो विचित्रता होगी वह वर्णन-प्रणाली की विचित्रता होगी, प्रस्तुत वस्तु या भाव की नहीं। अद्भुतरस के लिए स्वतः आलम्बन विचित्र या आश्चर्यजनक होना चाहिए। शृंगार का वर्णन कौतुकी कवि लोग कभी कभी वीररस की सामग्री अलंकार-रूप में रखकर किया करते हैं। क्या ऐसे स्थलों पर शृंगाररस न मानकर वीररस मानना चाहिए ?

उक्ति-वैचित्र्य या अनूठेपन पर जोर देनेवाले हमारे यहाँ भी हुए हैं और योरप में भी आजकल बहुत जोर पर हैं, जो कहते हैं कि कला या काव्य में अभिव्यंजना (Expression) ही सब कुछ है; जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह कुछ नहीं। इस मत के प्रधान प्रवर्त्तक इटली के क्रोचे (Benedetto Croce) महोदय हैं। अभिव्यंजना-वादियों (Expressionists) के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में अनावश्यक है। जैसे, वाल्मीकि-रामायण में की इस उक्ति में—

न स संकुचित: पन्था येन बाली हतो गतः ।

कवि का कथन यही वाक्य है, यह नहीं कि "जिस प्रकार बाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो।" एक और नया उदाहरण लीजिए। यदि हम पर कभी कविता करने की सनक सवार हो और हम कहें कि—

भारत के फूटे भाग्य के टुकड़ो ! जुड़ते क्यों नहीं ?

तो हमारा कहना यही होगा; यह नहीं कि "हे फूट से अलग हुए अभागे भारतवासियो ! एकता क्यों नहीं रखते ? यदि तुम एक हो जाओ तो भारत का भाग्योदय हो जाय।"

अभिव्यंजनावादियों के काव्य-सम्बन्धी उपर्युक्त कथन में जो वास्तविक तथ्य है उसकी ओर हमारे यहाँ के आचार्यों ने अपने ढंग पर पूरा ध्यान दिया है। रसावादियों ने रस को और ध्वनिवादियों ने काव्यवस्तु को व्यंग्य कहा है। उनके अनुसार रस की या वस्तु की व्यंजना होनी चाहिए, अभिधा द्वारा सीधे कथन नहीं। 'रस व्यंग्य होता है' यह कथन कुछ भ्रामक अवश्य है। इससे यह भ्रम होता कि जिस भाव की व्यंजना होती है वही भाव रस है। यही बात वस्तु-व्यंजना के सम्बन्ध में भी समझिए। "व्यंजना में अर्थात् व्यंजक वाक्य में रस होता है" यही कहना ठीक है और यही समझा ही जाता है। केशव की यह उक्ति लीजिए—

क्रूर कुठार निहारि तज्यो, फल ताको यहै जो हियो जरई।
आजु ते तो कहँ, बन्धु ! महा धिक, छत्रिन पै जो दया करई।

यह उक्ति ही कविता है; न कि 'परशुराम ने क्रोध किया' यह व्यंग्य या अभिप्राय। व्यंजक वाक्य ही काव्य होता है; व्यंग्य भाव या वस्तु नहीं। 'व्यंग्य' शब्द के प्रयोग में कहीं कहीं गड़बड़ी होने पर भी इस बात को सब लोग जानते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि व्यंग्य अर्थ या लक्ष्य अर्थ का कोई विचार ही नहीं होता। व्यंजक या लक्षक वाक्य का जब तक व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ के साथ सामंजस्य न होगा तब तक वह उन्मत्त प्रलाप या जान-बूझकर खड़ा किया हुआ धोखा ही होगा।

'अभिव्यंजनावाद' अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर चला है; पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है। अभिव्यंजनावाद के अनुसार ही यदि कविता बनने लगे तो उसमें विलक्षण विलक्षण वाक्यों के ढेर के सिवा और कुछ न होना चाहिए—न विचारधारा, न भावों की रसधारा। पर इस प्रकार की ऊटपटाँग कविता योरप में भी न बनी है, न बनती है।

योरप के समीक्षा-क्षेत्र में उठते रहनेवाले वादों के सम्बन्ध में यह बात पक्की समझनी चाहिए कि वे एकांगदर्शी होते हैं, वे या तो प्रतिवर्त्तन (Reaction) के रूप में अथवा प्रचलित मतों में कुछ अपनी विलक्षणता या नवीनता दिखाने की झोंक में, जोर-शोर के साथ प्रकाशित किए जाते हैं; इससे उनमें अत्युक्ति की मात्रा बहुत अधिक होती है। वे प्रायः अव्याप्ति या अतिव्याप्ति-ग्रस्त होते हैं। अपनी कसौटी पर बिना उनकी कड़ी परीक्षा किए उनका राग अलापना अन्धेपन का प्रचार करना है। 'प्रभाववाद' (Impressionism) और 'अभिव्यंजनावाद' (Expressionism) दोनों की एकांगदर्शिता ऊपर के विवरणों से स्पष्ट है। यही स्वरूप वहाँ के और वादों का भी समझिए।

हमारे यहाँ के पुराने ध्वनिवादियों के समान आधुनिक 'अभिव्यंजनावादी' भी भाव-व्यञ्जना और वस्तु-व्यंजना दोनों में काव्यतत्त्व मानते हैं उनके निकट अनूठे ढंग से की हुई वस्तु-व्यंजना भी काव्य ही है। इस सम्बन्ध में हमारा यही वक्तव्य है कि अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध—कुछ दूर का सही—हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा। मान लीजिए कि अनूठे भंग्यन्तर से कथित किसी लक्षणापूर्ण उक्ति में सौन्दर्य का वर्णन है। उस उक्ति में चाहे कोई भाव सीधे-सीधे व्यंग्य न हो, पर उसकी तह में सौन्दर्य को ऐसे अनूठे ढंग से कहने की प्रेरणा करनेवाला रति-भाव या प्रेम छिपा हुआ है। जिस वस्तु की सुन्दरता के वर्णन में हम प्रवृत्त होंगे वह हमारे रति-भाव का

आलम्बन होगी। आलम्बन मात्र का वर्णन भी रसात्मक माना जाता है और वास्तव में होता है।

योरप का यह 'अभिव्यंजनावाद' हमारे यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद'—वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्—को ही नया रूप या विलायती उत्थान है। अन्तर इतना ही है कि भंग्यन्तर के लिए हमारे यहाँ व्यंजना का अधिक सहारा लिया जाता है और योरप में लक्षणा का। योरप की भाषाओं में लाक्षणिक चपलता अधिक होती है। अनूठेपन का काव्य में क्या स्थान है, यह बात अब विचार के लिए सामने आती है।

जगत् की नाना वस्तुओं, व्यापारों और बातों को ऐसे रूप में रखना कि वे हमारे भावचक्र के भीतर आ जायँ, यही काव्य का लक्ष्य होता है। विश्व की अनन्तता के बीच जिस प्रकार ज्ञान अपना प्रसार चाहता है, उसी प्रकार हृदय भी। वह भी अपने रमने के लिए नई नई भूमि चाहता है। अनूठापन कहीं तो किसी भाव या मनोवृत्ति की व्यंजना में —अर्थात् जिन वाक्यों में उस भाव की व्यंजना होती है उनमें—और कहीं उस वस्तु या तथ्य में ही जिसकी ओर कवि अपने चित्रण-कौशल से भाव को प्रवृत्त करता है, होता है। सुबीते के लिए एक को हम भाव-पक्ष का अनूठापन कह सकते हैं; दूसरे को विभाव-पक्ष का।

अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है; एक अतिरिक्त गुण है जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। इसके बिना भी तन्मय करनेवाली कविता बराबर हुई है और होती है। पद्माकर की इस सीधी-सादी उक्ति में—"नैन नचाय कह्यो मुसकाय, लला! फिर आइयो खेलन होरी"—पूरी रमणीयता है। जो लोग मनोरंजन को ही—किसी भाव में लीन होने को नहीं—काव्य का चरम लक्ष्य समझते हैं, वे सब जगह कुछ कूतूहल की सामग्री ढूँढ़ते हैं। पर काव्य केवल कूतूहल उत्पन्न करनेवाली वस्तु नहीं है; भिन्न भिन्न भावों में लीन करनेवाली रमानेवाली वस्तु है। अतः वही वक्रोक्ति (वक्रोक्ति अलंकार नहीं; उक्ति का बाँकपन या अनूठापन), वही वचन-भंगी जो किसी न किसी भाव या मनोवृत्ति द्वारा प्रेरित होगी, काव्य के अन्तर्गत होगी। ऐसी वह

व्यंजना जिसकी तह में कोई भाव न हो, चाहे कितने ही अनूठे ढंग से की गई हो, चाहे उसमें कितना ही लाक्षणिक चमत्कार हो, प्रकृत कविता न होगी, सूक्ति मात्र होगी। सारांश यह कि भाव या मनोविकार की नीवँ पर ही कविता की इमारत खड़ी हो सकती है। कुतूहल भी एक मनोवृत्ति है, पर वह अकेले काव्य का आधार नहीं हो सकती। तमाशा देखना और कविता सुनना एक ही बात नहीं है।

इस 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से मूर्त्त विधान का बड़ा ही दुरुपयोग होने लगा है। अँगरेजी में तो कम, पर बँगला में—जो हर एक विलायती ताल-सुर पर नाचने के लिए तैयार रहती है—यह बात बहुत भद्दी हद तक पहुँची। कहीं लालसा मधुपात्र लिए हृत्तन्त्री के नीरव तार झनझना रही है ; कहीं स्मृति-वेदना करवटें बदलकर आँखें मल रही है इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार लड़कों के खेल से निराधार विधान वहाँ चल पड़े, जिनकी नक़ल हिन्दी में भी बड़ी धूम से हो रही है। 'छायावाद' समझकर जो कविताएँ हिन्दी में लिखी जाती हैं उनमें से अधिकांश का 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनमें से कुछ तो विलायती 'अभिव्यंजनावाद' के आदेश पर रची हुई बँगला कविताओं की नक़ल पर, और कुछ अँगरेजी कविताओं के लाक्षणिक-चमत्कारपूर्ण वाक्य शब्द-प्रति-शब्द उठाकर, जोड़ी जाती हैं। इनके जोड़नेवाले यह नहीं जानते कि 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' शब्द काव्यवस्तु (Matter) का सूचक है, अतः जहाँ काव्यवस्तु में कोई 'वाद' नहीं है, केवल व्यंजनाशैली के वैचित्र्य का अनुकरण है, वहाँ 'अभिव्यंजनावाद, की नक़ल है। यह नक़ल—जैसे और सब नक़लें—बँगला में शुरू हुई। अतः हिन्दीवालों में कुछ बेचारे तो बंग-पदावली के अवतरण से ही सन्तुष्ट रहते हैं और कुछ—जिन्हें अँगरेजी का भी थोड़ा-बहुत परिचय रहता है—सीधे अँगरेजी से, जहाँ से बँगाली लेते हैं, लाक्षणिक पदावली उठाया करते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में उस अन्विति (Unity) का सर्वथा अभाव रहता है, जिसके बिना कला की कोई कृति खड़ी ही नहीं हो सकती। इधर-उधर से बटोरे वाक्यों का एक

असंश्लिष्ट और असंबद्ध ढेर सा लगा दिखाई पड़ता है। बात यह है कि अपनी किसी अनुभूति, भावना या तथ्य की व्यंजना के लिए अपने उद्भावित वाक्य ही एक में समन्वित हो सकते हैं।

भिन्न भिन्न देशों की प्रवृत्ति की पहचान यदि हम काव्य के भाव और विभाव दो पक्ष करके करते हैं तो बड़ी सुगमता हो जाती है। 'भाव' से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यंजना से है; विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है। भारतीय साहित्य में दोनों पक्षों का सम-विधान पाया जाता है। वन, पर्वत, नदी, निर्झर, मनुष्य, पशु पक्षी इत्यादि जगत की नाना वस्तुओं का वर्णन आलम्बन और उद्दीपन दोनों की दृष्टि से होता रहा है। प्रबन्ध-काव्यों में बहुत से प्राकृतिक वर्णन आलम्बन-रूप में ही हैं। कुमारसम्भव के आरम्भ का हिमालय-वर्णन और मेघदूत के पूर्वमेघ का नाना-प्रदेश-वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। इन वर्णनों में कवि ही आश्रय है जो प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति अपने अनुराग के कारण उनका रूप विवृत करके अपने सामने भी रखता है और पाठकों के भी। जैसा पहले कहा जा चुका है केवल आलम्बन का वर्णन भी रसात्मक होता है। नखशिख-वर्णनों में आलम्बन के रूप का ही वर्णन रहता है पर वे रसात्मक होते हैं। विभाव के समान भाव-पक्ष का भी पूरा विधान हमारे यहाँ मिलता है। उक्ति, चेष्टा और शरीर-धर्म तीनों प्रकार के अनुभावों द्वारा भावों की व्यंजना होती आई है।

फ़ारस की शायरी भाव-पक्ष-प्रधान है। उसमें विभाव-पक्ष का विधान नहीं या नहीं के बराबर हुआ। भाव-पक्ष में भी केवल रतिभाव का ही सम्यक् ग्रहण पाया जाता है। इसी के अलौकिक उत्कर्ष की व्यंजना अलग अलग एक एक पद्य की गँठी हुई उक्ति में होती है। वेदना की विवृति की चाल फ़ारसी और उर्दू की शायरी में बहुत अधिक है। विभाव और भाव के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न होने से इस बात का ध्यान न होने से कि मन में लाए हुए रूप किस प्रकार र

में सहायक या बाधक होते हैं—वेदना की यह विवृति कभी कभी बड़े बीभत्स दृश्य सामने लाती है। आबले फूटना, मवाद बहना, कलेजा चिड़ना, खून के क़तरे टपकना, कबाब की तरह इधर-उधर भुनना—वेदना का इस प्रकार का ब्योरा शृंगार का पोषक नहीं हो सकता। खेद है कि उर्दू की देखादेखी वेदना की ऐसी विवृति की नक़ल हिन्दी की कविताओं में भी कुछ कुछ हुई है और अब भी कुछ नए ढंग पर होती है। संस्कृत के कवियों में वेदना की विवृति भवभूति में ही सबसे अधिक पाई जाती है; पर वह भारतीय काव्य-शिष्टता की मर्यादा के भीतर है। वेदना की अधिक विवृति हम काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझते हैं। हमें तो वेदना का अधिक ब्योरा पढ़ने पर ऐसा ही जान पड़ता है जैसे कोई भारी रोगी किसी वैद्य के सामने अपने पेट के भीतर की शिकायतें बता रहा हो। प्रेम को व्याधि के रूप में देखने की अपेक्षा हम संजीवनी शक्ति के रूप में देखना अधिक पसंद करते हैं।

अश्रु, स्वेद आदि का उल्लेख हमारे काव्य में भी हुआ है, पर जमीन से आसमान तक उनकी गंदी नदी नहीं बहाई गई है। जैसे अपनी प्रकृति का, अपने शरीर-धर्मों का, बहुत अधिक वर्णन बातचीत की सभ्यता के विरुद्ध समझा जाता है वैसे ही अब काव्य की शिष्टता के विरुद्ध समझा जाना चाहिए।

हम विभाव-पक्ष को कविता में प्रधान स्थान देते हैं। 'विभाव' से अभिप्राय लक्षण-ग्रन्थों में गिनाए हुए भिन्न भिन्न रसों के आलम्बन मात्र से नहीं है, यह पहले सूचित किया जा चुका है। जगत् की जो वस्तुएँ, जो व्यापार या प्रसंग हमारे हृदय में किसी भाव का संचार कर सकें उन सबका वर्णन आलम्बन का ही वर्णन माना जाना चाहिए। विश्व की अनन्तता के भीतर, मनुष्यजाति के ज्ञान-प्रसार के बीच, ऐसे वस्तु-व्यापार-योग और ऐसे प्रसंग भी हमारी पहुँच के हिसाब से अनन्त ही हैं। जिस मर्मस्पर्शिणी वस्तु-व्यापार-योजना का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या कल्पना के सहारे हमने साक्षात्कार किया हो उसे अपना प्रभाव उत्पन्न करने के लिए औरों तक ठीक ठीक पहुँचाकर यदि हम अलग हो जायँ, तो भी कवि-कर्म कर

चुके। यदि लोक के मर्मस्थलों की पहचान हममें होगी तो हमारी उपस्थित की हुई योजना सहृदय मात्र को भावमग्न करेगी। यदि उस योजना में लोक-हृदय को स्पर्श करने की क्षमता न होगी, तो भावानुभूति का हमारा सारा प्रदर्शन भाँड़ों की नक़ल सा होगा। भाव-प्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें संवेदना की विवृति ही रहती है—आलम्बन का आक्षेप पाठक के ऊपर छोड़ दिया जाता है। विभाव-प्रधान कविता में—ऐसी कविता में जिसमें आलम्बन का ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है—संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।

अपनी अनुभूति या संवेदना का लंबा-चौड़ा ब्योरा पेश करने की अपेक्षा उन तथ्यों या वस्तुओं को पाठक की कल्पना में ठीक ठीक पहुँचा देना जिन्होंने वह अनुभूति या संवेदना जगाई है, कवि के लिए हम अधिक आवश्यक समझते हैं। सहृदय या भावुक पाठक अपनी अनुभूति का पथ बहुत कुछ आप से आप निकाल लेते हैं। इसी प्रकार सच्चे कवियों की अनुभूति का आभास बहुत कुछ उनकी वस्तु-योजना की शब्दभंगी में ही मिल जाता है।

भावों के लिए आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरम्भ में मनुष्य की चेतन-सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई है त्यों त्यों मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गई है। अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम होगा।

ये परिस्थितियाँ बहुत ही व्यापक होंगी, ये तथ्य न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे। यदि अत्याचार होगा तो उसका फैलाव औरंगज़ेब के अत्याचार का सा न होगा, रावण के अत्याचार का सा होगा। हाहाकार होगा तो जगद्व्यापी होगा। हाय होगी तो पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक होगी; पर एक हाय करनेवाला दूसरे हाय करनेवाले से इतनी दूर पर होगा कि सम्मिलित हाय की दारुणता केवल बाहरी आँखों की पहुँच के बाहर होगी। यदि प्राणियों की किसी सामान्य प्रवृत्ति का चित्रण होगा, तो सामग्री कीटाणुओं की दुनिया तक से लाई जा सकती है। जगत् रूपी घन-चक्कर और गोरखधन्धे की महत्ता और जटिलता से चकित होने की चाह में हम अपनी अन्तर्दृष्टि के सामने एक ओर अणुओं परमाणुओं और दूसरी ओर ज्योतिष्क पिंडों के भ्रमण-चक्रों तक को ला सकते हैं।

रूखे और (बाह्य करणों को) अगोचर को सरस और गोचररूप में लाने का व्यवसाय काव्यक्षेत्र में बढ़ेगा। ये गोचर रूप झूठे रूपक न होंगे; किसी तथ्य के मार्मिक मूर्त्त उदाहरण होंगे। कितने गूढ़, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में हुआ करेगा।

काव्य के सम्बन्ध में भाव और कल्पना, ये दो शब्द बराबर सुनते सुनते कभी कभी यह जिज्ञासा होती है कि ये दोनों समकक्ष हैं या इनमें कोई प्रधान है। यह प्रश्न, या इसका उत्तर, जरा टेढ़ा है, क्योंकि रस-काल के भीतर इनका युगपद् अन्योन्याश्रित व्यापार होता है। रस की स्थिति श्रोता या पाठक में मानी जाती है। अतः श्रोता या पाठक की दृष्टि से यदि विचार करते हैं तो उनमें सहृदयता या भावुकता अधिक अपेक्षित होती है; कल्पना-क्रिया कम। कवि की विधायक कल्पना रस की तैयार सामग्री उनके सामने रख देती है। कवि-कर्म में कल्पना की बहुत आवश्यकता होती है; पर यह कल्पना विशेष प्रकार की होती है;

इसकी क्रिया कवि की भावुकता के अनुरूप होती है। कवि अपनी भावुकता की तुष्टि के लिए ही कल्पना को रूपविधान में प्रवृत्त करता है। रस की प्रतीति पूर्ण व्यंजना होने पर ही, काव्य के पूर्ण हो जाने पर ही, मानी गई है; व्यंजना के पहले नहीं। अतः कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की जिस उमंग में रचना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहें तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते हैं।

जब भाव की उमंग ही कल्पना को प्रेरित करती है तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है। कल्पना उसकी सहयोगिनी है। पर ऐसी सहयोगिनी है जिसके बिना कवि अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कवि-कर्म है। अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों अनिवार्य हैं। भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखनेवाला होता है तभी कवि होता है। पर यह भी निश्चय समझना चाहिए कि जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में व्यंजना कभी हो नहीं सकती। उसे प्रेषणीय बनाने के लिए—दूसरों के हृदय तक पहुँचाने के लिए—भाषा का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों में ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और की और हो जाती है। इसी से बहुत सी दिव्य और सुन्दर अनुभूतियों को कवि यों ही छोड़ देते हैं, उनकी व्यंजना का प्रयास ही नहीं करते। अत्यन्त गहरी अनुभूतिवाले बहुत से भावुक तो कभी ऐसा प्रयास नहीं करते। वे जीवन भर एक प्रकार के मूक कवि बने रहते हैं। बहुत सी कविता अनुभूति-दशा में नहीं होती; स्मृति-दशा में होती है। जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता में आ गया है, उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए और उसकी कविता को कवियों की वाणी का अनुकरण मात्र।

जैसे कवि वैसे ही पाठक या श्रोता भी कभी कभी रसप्रवण होते हैं। लोग कभी कहते हैं कि 'वीर रस की कोई कविता सुनाइए', कभी कहते

हैं 'शृंगार रस की कोई कविता सुनाइए', इसका मतलब यही है कि कभी उनमें उत्साह का उन्मेष रहता है, कभी प्रेम का, कभी किसी और भाव का। इस प्रकार रसोन्मुख होने पर वे अपने अन्तस् में ऐसी वस्तु लाना चाहते हैं जिस पर भाव विशेष टिके; उस वस्तु के ऐसे विवरणों में अन्तर्दृष्टि रमाना चाहते हैं जिनसे वह भाव उद्दीप्त रहे; ऐसी उक्तियाँ सुनना चाहते है जो उस भाव द्वारा प्रेरित या अनुप्राणित समझ पड़ें।

'अभिव्यंजना ही कला या काव्य है' इसका अर्थ यहाँ तक कभी नहीं घसीटा जा सकता कि व्यंजना या व्यंजक उक्ति से भिन्न काव्यानुभूति कोई वस्तु ही नहीं। काव्यानुभूति ही वह प्रधान वृत्ति है जो व्यंजना की प्रेरणा करती है। बात यह है कि पाठक या श्रोता के पास कवि की अन्तर्वृत्ति तक पहुँचने का कोई अचूक साधन नहीं होता जिससे वह यह देख सके कि अनुभूति के अनुरूप व्यंजना हुई है या नहीं। इससे वह व्यंजना या उक्ति से ही प्रयोजन रखता है। पर जब हम पूरे कवि-कर्म पर विचार करते हैं—केवल उसके फल पर ही नहीं—तब उसके मूल में काव्यानुभूति की सत्ता माननी पड़ती है। यह दिव्य अनुभूति समय समय पर थोड़ी-बहुत सबको हुआ करती है। इसका प्रधान लक्षण है अपने ख़ास सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि से उद्विग्न न होना, अपनी शरीर-यात्रा से सम्बद्ध न होना। प्रेमियों के प्रेम-व्यापार, दुखियों के दुःख, अत्याचारियों की क्रूरता देख सुनकर जो रति, करुणा और क्रोध जाग्रत् होता है, छूटे हुए स्वदेश की, अतीत काल के दृश्यों की जो प्रीतिस्निग्ध स्मृति जाग्रत् होती है, लोकरंजक महात्माओं के प्रति जिस श्रद्धा-भक्ति का उदय होता है, उन सबकी अनुभूति शुद्ध भावक्षेत्र की अनुभूति है। जब तक इस प्रकार की अनुभूति में कोई लीन रहे, तब तक उस पर अव्यक्त काव्य का आवेश समझना चाहिए।

रसानुभूति या काव्यानुभूति की उपर्युक्त विशेषता के कारण उसे लोकोत्तर, जीवन से परे आदि कहने की चाल चल पड़ी है। पर वास्तव में वह जीवन के भीतर की ही अनुभूति है; आसमान से उतरी

हुई कोई वस्तु नहीं है। इसी प्रकार कविता और कवि की स्तुति में जो बहुत से अलंकारपूर्ण वाक्य इधर कुछ दिनों से कहे, सुने और लिखे जाने लगे हैं, उन्होंने अर्थशून्य शब्दों का एक ऐसा झूठा परदा खड़ा कर दिया है जिनके कारण काव्यभूमि बहुत कुछ अन्धकार में पड़ती जाती है। कविता स्वर्ग से गिरती हुई सुधाधारा है; नन्दनवन के कुसुमों से टपकी मकरन्द की बूँद है; अनन्त के दिव्य संगीत की स्वर-लहरी है; कवि इस लोक का जीव ही नहीं है; वह पार्थिव जीवन से परे है; उसका एक दूसरा ही जगत् है; वह पैग़म्बर है, औलिया है, रहस्य-दर्शी है—ऐसी ऐसी लचर बातें काव्य-समीक्षा के नाम से कही जाने लगी हैं। बुद्धि को रुग्ण करनेवाली, पाषंड का प्रचार करनेवाली, यह हवा अँगरेज़ी से बँगला में और बँगला से हिन्दी में आई है। आज-कल मासिक-पत्रिकाओं में किसी कवि या काव्य की समीक्षा के वेश में कभी कभी बहुत सी ऐसी अर्थशून्य पदावली—जो अँगरेज़ी या बँगला से उठाई हुई होती है—छपा करती है। निरर्थक इस शब्दों की आँधी से ऊबकर एक सूक्ष्मदर्शी अँगरेज़ समालोचक को यहाँ तक कहना पड़ा है कि "भाषा अभी तक उन सब वस्तुओं के स्वरूप को छिपाने ही में कृतकार्य हुई है जिनकी हम चर्चा किया करते हैं।"*

कविता के सम्बन्ध में कई प्रवाद जो कुछ दिनों से योरप में प्रचलित चले आ रहे हैं, उनकी नक़ल हिन्दी में भी इधर-उधर सुनाई पड़ने लगी है। इन प्रवादों में एक यह भी है कि 'कला का उद्देश्य कला ही है' या 'काव्य का उद्देश्य काव्य ही है' इस उक्ति के अनुसार कविता का क्षेत्र जीवनक्षेत्र से बिल्कुल अलग है। कविता का विचार करते समय जीवन की बातों को तो लाना ही न चाहिए। कला की कृति का मूल्य निर्द्धारित करने में बाहरी बातों के मूल्य का

---

* Language has succeeded until recently in hiding from us almost all the things we talk about.
—I. A. Richards: Principles of Literary Criticism.

विचार व्यर्थ है।* कला का तो अपना मूल्य अलग ही है। कला-सम्बन्धी यह वाद सन् १८६६ ईसवी से फ्रांस में चला। साहित्य-समीक्षा के नए नए वाद फ्रांस ही में सबसे अधिक उठा किए हैं। इस क्षेत्र में वही एक प्रकार से योरप का गुरु रहा है। अँगरेजो में उपर्युक्त मत का बहुत स्पष्ट प्रतिपादन डाक्टर ब्रैडले (Dr. Bradley) ने अपनी पुस्तक (Oxford Lectures on Poetry) में किया है। हर्ष की बात है कि इस मत का, तथा इसी प्रकार के और प्रचलित प्रवादों का, निराकरण रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने अपने 'काव्य-समीक्षा के सिद्धान्त' में बहुत अच्छी तरह कर दिया है।† जो काव्यों का अनुशीलन और जनता पर उनके प्रभाव का अन्वीक्षण करते आ रहे हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि कविता जीवन ही से उत्पन्न है और जीवन के भीतर ही अपनी विभूति का प्रकाश करती है। उसे जीवन से विच्छिन्न बताना कहीं की बात कहीं लगाना है।

हम कह चुके हैं कि योरप में जो साहित्यिक वाद या प्रवाद चलते हैं उनमें से अधिकतर प्रतिवाद की धुन में अर्थात् प्रतिवर्त्तन (Reaction) के रूप में उठते हैं। सबमें कोई स्थायी मूल्य या तत्त्व नहीं होता; होता भी है तो बहुत थोड़ा। इसी से बहुत से 'वाद', जिनका कुछ दिनों तक फ़ैशन रहता है, आगे चलकर हवा हो जाते हैं। विज्ञान के वादों में जिस ईमानदारी और सचाई से काम लिया जाता है; साहित्यिक वादों में नहीं। साहित्य के क्षेत्र में हरएक अपनी अलग हवा बहाने के फेर में रहता है और जरा सा बढ़ावा पाने पर किसी एक बात को लेकर हद से

* To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions.

—Clive Bell : 'Art'

† इस मत के विशेष विवरण और खंडन के लिए देखिए हमारा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पुस्तकाकार संस्करण)।

बहुत दूर निकल जाता है। 'कला का उद्देश्य कला है' इस वाद का प्रचार भी फ्रांस में प्रतिवर्त्तन के रूप में ही हुआ था। काव्य की पुरानी बँधी रूढ़ियों को हटाकर, केवल मुक्त कल्पना और भावों की अप्रतिबद्ध गति को लेकर योरप में स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का प्रचार हुआ। वह जब हद के बाहर जाने लगा और काव्य के विषय ऊटपटाँग तथा वर्णनशैली शिथिल और अशक्त होने लगी तब सन् १८६६ ई० में उसके प्रतिवाद के रूप में 'कला का उद्देश्य कला' का सिद्धान्त लेकर कुछ लोग खड़े हुए। ये लोग पारनेसियन (Parnassiens) कहलाए। इनका उद्देश्य काव्य में अधिक समीचीन प्रेरणा, सुडौल योजना और चित्ताकर्षक शैली का प्रचार करना था।

इन पारनेसियनों के पीछे सन् १८८५ ई० में 'प्रतीकवादियों' (Symbolists or Decadents) का एक सम्प्रदाय फ्रांस में खड़ा हुआ जिसने अनूठे 'रहस्यवाद' और 'भावोन्मादमयी भक्ति' का सहारा लिया।* हमारे यहाँ के श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'गीतांजली' का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित करके इसी सम्प्रदाय के सुर में सुर मिलाया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि बंगभाषा के प्रसाद से हिन्दी में इस वर्ग की प्रवृत्ति का अनुकरण खूब चल पड़ा है। बंगभाषा के काव्यक्षेत्र के तो एक कोने ही में इस रहस्यवाद या छायावाद की तन्त्री बजी; मराठी, गुजराती को हरएक विलायती ताल-सुर पर नाचने की आदत नहीं; पर हिन्दी में तो इसकी नक़ल का तूफान सा आ गया।

यह 'प्रतीकवाद' सिद्धान्त-रूप में यद्यपि आध्यात्मिक 'रहस्यवाद'

---

* Following upon the Parnassiens, about 1885, came the Symbolists or Decadents—a movement of dexterous mysticism and 'sentimental religiosity' too recent for satisfactory historical investigation.

—Gayley & Kurtz : Methods and Materials of Literary Criticism.

के साथ सम्बद्ध होकर उठा है, पर प्रतीक-रूप में वस्तुओं का व्यवहार अच्छी कविता में बराबर होता आया है।* किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन में आ जाती है उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकारों या भावनाओं को जाग्रत् कर देती हैं। जैसे 'कमल' माधुर्यपूर्ण कोमल सौन्दर्य की भावना जाग्रत करता है; 'कुमुदिनी' शुभ्र हास की; 'चन्द्र' मृदुल आभा को; 'समुद्र' प्राचुर्य, विस्तार और गम्भीरता की; 'आकाश' सूक्ष्मता और अनन्तता की। इसी प्रकार 'सर्प' से क्रूरता और कुटिलता का, 'अग्नि' से तेज और क्रोध का, 'वीणा' से वाणी या विद्या का, 'चातक' से निःस्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता है। प्रतीक दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो मनोविकारों या भावों को जगाते हैं (Emotional Symbols) और कुछ भावनाओं या विचारों को (Intellectual Symbols)। भावना या कल्पना जगानेवाले प्रतीकों के साथ भाव या मनोविकार भी प्रायः लगे रहते हैं।

ऊपर जिन प्रतीकों के नाम आए हैं वे सब ऐसे हैं जिनके स्वरूप में ही कुछ न कुछ व्यंजना है। पर उनमें इतनी अधिक शक्ति के संचय का कारण यह भी है कि वे कई सहस्र वर्षों से कम से कम भारतीय जनता की कल्पना के अंग और भावों के विषय रहते आए हैं। वे परम्परागत प्रतीक हैं। काव्य में ऐसे ही प्रतीकों का व्यवहार होता आया है और हो सकता है। यह तो प्रत्यक्ष है कि थोड़े से ही प्रतीक सार्वभौम हो सकते हैं। भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के अनु-

---

* Symbolism, as seen in the writers of our day, would have no value if it were not seen also, under one guise or another, in every great imaginative writer.

—Arthur Symons: 'The Symbolist Movement in Literature.'

सार प्रतीक भी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। 'गुल-बुलबुल' से जिस भावना का संकेत फ़ारसवाले को मिलता है उस भावना का संकेत भारतवासी को नहीं; 'चातक' से जिस भावना का संकेत भारतवासी को मिलता है उस भावना का संकेत योरपीय को नहीं। क्रूस (Cross) से जैसी पवित्रता और स्वर्गीय शान्ति का संकेत एक ईसाई को मिलेगा, हिन्दू या बौद्ध को नहीं। प्रकृति के नाना रूपों को भिन्न भिन्न देशों ने भिन्न भिन्न भावों से देखा है। सघन वन, पर्वत आदि भारतीय या योरपीय हृदय को चाहे रमावें पर फ़ारसी दृष्टिवाले को वे कष्ट या विपत्ति ही के सूचक होंगे। अधिकतर कुहरे और बदली से आच्छन्न रहनेवाले योरप में 'चमचमाती धूप' आनन्द और सुख-समृद्धि का संकेत हो, पर भारत के लिए नहीं हो सकती। 'स्निग्ध श्यामल घटा' में जो उदार और शीतल माधुर्य भारतीय देखता है, योरपीय नहीं, जाड़े की सन्ध्या कुछ मनहूस और उदासी लिए होती है; इससे विलायतवाले उसे शोक और उदासी का प्रतीक मानें तो ठीक है। पर हिन्दुस्तान में जाड़ा बहुत थोड़े दिनों रहता है। यहाँ तो दिन की आँख तिलमिलानेवाली चमक के पीछे सन्ध्या की मधुर आभा मृदुलता का संकेत करती है। हाँ! 'अन्धकार' या 'अँधेरी रात' शोक और उदासी का प्रतीक अवश्य मानी जाती है। जायसी ने रत्नसेन के परलोकवास पर अँधेरी रात ही ली है—

सूरुज छपा रैनि होइ गई। पूनिऊँ ससि जो अमावस भई।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्य में बहुत कुछ अलंकार-प्रणाली के भीतर ही हुआ है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के उपमान और प्रतीक एक ही वस्तु हैं। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत् करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते। पर जो प्रतीक भी होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं। अलंकारों में कभी कभी किसी एक विषय के सादृश्य या साधर्म्य के विचार से ही बहुत से उपमान

ऐसे रख दिए जाते हैं जिनमें कुछ भी प्रतीकत्व नहीं होता—जैसे कटि की उपमा के लिए सिंह या भिड़ की कमर। ऐसे उपमानों से हम सच्चे काव्य की कुछ भी सिद्धि नहीं मानते। किसी वस्तु के मेल में उपमान खड़ा करने का उद्देश्य यही होता है कि उस वस्तु के सौन्दर्य आदि की जो भावना हो उसे और उत्कर्ष प्राप्त हो। अतः सच्ची परखवाले कवि अप्रस्तुत या उपमान के रूप में जो वस्तुएँ लाते हैं उनमें प्रतीकत्व होता है। हंस, चातक, मेघ, सागर, दीपक, पतंग इत्यादि कुछ विशेष वस्तुओं पर अन्योक्तियाँ क्यों इतनी मर्मस्पर्शिणी हुई हैं? इसलिए कि उनमें प्रतीकत्व है। उनके नाम मात्र हमारे हृदय में कुछ बँधी हुई भावनाओं का उद्बोधन करते हैं। इसी प्रकार फ़ारसी की शायरी में बुलबुल, शमः-परवानः, शराब-प्याला आदि सिद्ध प्रतीक हैं।

यहाँ तक तो काव्य में प्रतीकों के सर्व-सम्मत सामान्य व्यवहार का उल्लेख हुआ; पर यह कायदे की बात है कि जब कोई बात 'वाद' के रूप में किसी सम्प्रदाय विशेष के भीतर ग्रहण की जाती है तब वह बहुत दूर तक घसीटी जाती है—इतनी दूर तक कि वह सबके काम की नहीं रह जाती—और उसे कुछ विलक्षणता प्रदान की जाती है। रहस्य-वाद को लेकर जो 'प्रतीकवादी' सम्प्रदाय योरप में खड़ा हुआ उसने परोक्षवाद (Occultism) का सहारा लिया। प्रतीक के रूप में गृहीत वस्तुओं में भावों के उद्बोधन की शक्ति कैसे संचित हुई इसका वैज्ञानिक उत्तर यही होगा कि कुछ तो उन वस्तुओं के स्वरूपगत आकर्षण से, कुछ चिरपरिचित आरोप के बल से और कुछ वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा के प्रभाव से। पर रहस्यवादी इसका उत्तर दूसरे ढंग से देंगे। वे कहेंगे कि "हमारे मन का विस्तार घटता-बढ़ता रहता है और कभी कभी कई एक मन संचरित होकर एक दूसरे में मिल जाते हैं और इस प्रकार एक मन या एक शक्ति का उद्घाटन करते हैं। हमारी स्मृति का विस्तार भी ऐसे ही घटता-बढ़ता रहता है और उस महास्मृति का, प्रकृति की स्मृति का, एक अंग है। इस महा मन और महा स्मृति का आह्वान प्रतीकों द्वारा उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार तान्त्रिकों के

विविध चक्रों या यन्त्रों द्वारा देवताओं का"।* इस प्रवृत्ति के अनुसार वे रचना में प्रवृत्त करनेवाली कवियों की प्रतिभा के जगने को वही दशा कहते हैं जिसे सूफी 'हाल आना' कहते हैं, जिसमें कुछ घड़ियों के लिए कवि की अन्त:सत्ता ईश्वरीय सार-सत्ता (Divine Essence) में मिल जाती है।

इस धारणा के अनुसार काव्य का लक्ष्य इस जगत् और जीवन से अलग हो जाता है। प्रकृति के जिन रूपों और व्यापारों का कवि सन्निवेश करेगा वे 'प्रतीक' मात्र होंगे। कवि की दृष्टि वास्तव में उन प्रतीकों के प्रति न मानी जाकर उन अज्ञात और परोक्ष शक्तियों या सत्ताओं के प्रति मानी जायगी जिनके वे प्रतीक होंगे। यदि वे प्रकृति का वर्णन करें तो उनका अनुराग प्रकृति पर न समझना चाहिए; प्रकृति के नाना रूपों के परदे के भीतर छिपी हुई अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति समझना चाहिए। वे भरसक इस बात का प्रदर्शन करेंगे कि उनके भावोद्गार और उनके वर्णन व्यक्त और पार्थिव के सम्बन्ध में नहीं हैं, अव्यक्त और अपार्थिव के सम्बन्ध में हैं। समझनेवाले चाहे जो समझें। यदि कोई बाबाजी किसी रमणी के प्रेम में उसके रूप-माधुर्य आदि का बड़े अनूठेपन के साथ वर्णन करके कहें कि "मेरा प्रेम उसके व्यक्त भौतिक शरीर

*(I) That the borders of our mind are ever shifting, that many minds can flow into one another, as it were, and create and reveal a single mind, a single energy.

(2) That the borders of our memories are as shifting, and that our memories are a part of one great memory the memory of Nature herself.

(3) That this great mind and great memory can be evoked by symbols.

—W. B. Yeats : 'Ideas of Good and Evil.'

से—उसकी रूप-रेखा, वर्ण, चेष्टा आदि से—नहीं है बल्कि उस भौतिक शरीर के भीतर छिपी अव्यक्त आत्मसत्ता से है, जो नित्य, अनन्त और सर्वव्यापक है," तो कह सकते हैं। पर कहाँ तक लोग ऐसा समझेंगे, यह बात दूसरी है। हाफ़िज़ के शराब और प्याले को सूफ़ी चाहे जो कहें, पर बहुत से पहुँचे हुए विद्वान् उन्हें शराब और प्याला ही मानते हैं।

बात यह है कि हृदय का कोई भाव यदि व्यंजित किया जायगा तो वह ज्ञात को ही लेकर होगा और गोचर के ही प्रति होगा। मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि 'भाव' (Emotion) के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो उसके अन्तर्गत ज्ञानात्मक अवयव का विशिष्ट विन्यास पाया जायगा। उसके बिना भाव का स्वरूप ही न पूर्ण होगा। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है, पर ईश्वर-भक्ति बराबर होती आई है और उसकी सचाई में कोई सन्देह नहीं हुआ है, तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर को ज्ञेय बनाकर ही उसकी उपासना और भक्ति का आरम्भ हुआ है। ईश्वर को प्रेमपूर्ण, दयालु पिता या स्वामी के रूप में अन्तःकरण के सामने रखकर ही प्रेम या भक्ति का चरम आलम्बन मनुष्यजाति ने खड़ा किया है। रही मूर्त्त भावना, वह भी इतने गुणों का आरोप हो जाने के कारण प्रेमानुभूति के समय भक्त के मन में कुछ न कुछ हो ही जाती है। तात्पर्य यह कि भाव के पूर्ण परिपाक के लिए आलम्बन की निर्दिष्ट भावना आवश्यक है।

अभिव्यक्ति को ही काव्यदृष्टि के भीतर माननेवाले विशुद्ध कवि और साम्प्रदायिक या रहस्यवादी कवि की मनोवृत्ति में यही भेद है कि एक बड़ी सचाई के साथ जिस पर उसका भाव टिका होगा उसे स्वीकार करेगा और दूसरा उसे स्वीकार न करके, इधर-उधर ताक-झाँक करेगा वह वेदान्तियों के 'प्रतिबिम्बवाद' का सहारा लेकर कहेगा कि ये सब रूप तो छाया हैं; हम जो प्रेम प्रकट करते हैं उसे इस छाया पर न समझो, जिसकी यह छाया है उस पर समझो। शायद वह यह दृष्टान्त भी दे कि जैसे पूर्वराग में चित्र देखकर ही अनुराग उत्पन्न होता है, पर उस चित्र के प्रति जो अनुराग प्रकट किया जाता है वह उस चित्र के प्रति न

होकर, जिसका वह चित्र होता है उसके प्रति होता है। पर पूर्वराग में जो अभिलाष होता है वह इस बात का होता है कि जिसे हम चित्र आदि छाया के रूप में देखते हैं उसे पूर्ण गोचर रूप में—दर्शन, श्रवण, स्पर्श आदि सबके विषय के रूप में—देखें। पर रहस्यवादी पूर्ण गोचर को सामने पाकर अगोचर, अभौतिक आदि की ओर अपना अभिलाष बताता है, जो अभिलाष के वास्तव स्वरूप के सर्वथा विरुद्ध है। जिस प्रकार पूर्वराग में आलम्बन अज्ञात नहीं रहता, चित्र आदि द्वारा अंशतः ज्ञात रहता है, उसी प्रकार जिसे रहस्यवादी अज्ञात कहता है वह भी, छाया या प्रतिबिम्ब के द्वारा सही, अंशतः ज्ञात रहता है। पर यदि रहस्यवादी 'अज्ञात', 'अगोचर', 'अभौतिक' का नाम न ले तो उसका 'वाद' कहीं नहीं रह जाता, जो उसे इतना प्रिय है। इस अज्ञात या अभौतिक के कारण उसे अपनी रचना में आडम्बर खड़ा करना पड़ता है, बात-बात में असीम-ससीम का राग अलापना पड़ता है।

अनिर्दिष्ट और धुंधली झलक या भावना में भी एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है जो स्निग्ध विस्मय, औत्सुक्य या अभिलाष उत्पन्न करता है। घने कुहरे या जाली के बीच किसी के रूपमाधुर्य की हलकी सी झलक मात्र पाकर हम केवल उत्सुक होंगे। इसी औत्सुक्य की सतत प्रेरणा से उसका रूप निर्दिष्ट करने के लिए हमारी कल्पना प्रवृत्त रहा करेगी। रहस्यवादी अपनी यही स्थिति बतलाते हैं। वे भी प्रकृति के क्षेत्र से कुछ रूपों को चुनकर उनकी विलक्षण और दूरारूढ़ योजना कल्पना के भीतर करते हैं। अपना यह प्रयत्न वे 'अज्ञात के औत्सुक्य' द्वारा प्रेरित बताते हैं। यहीं तक कहकर रह जाते तो ज्यादः खटकने की बात न थी। इसके आगे बढ़कर वे यह भी सूचित करते हैं कि अपनी दूरारूढ़ रूप-योजना या भावना में वे अगोचर और अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार करते हैं। कुहरे या जाली के बीच में किसी के रूपमाधुर्य की हलकी झलक पानेवाला पीछे अपने मन में उसके रूप की जो तरह-तरह की कल्पना किया करता है, उसे उसी का रूप न समझता है, न कहता है। यदि कल्पना में आया हुआ रूप ही बिम्ब या पारमार्थिक वस्तु है तब तो क

नात्मक रूप ही आलम्बन ठहरे। सारा अभिलाष, सारा औत्सुक्य उन्हीं के लिए समझना चाहिए।

कल्पनात्मक रूपों के इसी आलम्बनत्व की प्रतिष्ठा करके साम्प्रदायिक 'रहस्यवाद' काव्यक्षेत्र में खड़ा हुआ। इंगलैंड के पूर्ववर्त्ती रहस्यवादी कवि ब्लेक (William Blake 1757-1827) ने कल्पना का बड़े ज़ोर से पल्ला पकड़ा और उसे नित्य पारमार्थिक सत्ता के रूप में ग्रहण करके कहा—

"कल्पना का लोक नित्य लोक है। यह शाश्वत और अनन्त है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ हैं जिन्हें हम प्रकृतिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित देखते हैं।" *

इस प्रकार ब्लेक ने भक्तिरस में दृश्य जगत् की रूप-योजना को आलम्बन न कहकर, कल्पना-जगत् की रूप-योजना को आलम्बन कहा। इस युक्ति से एक बड़ी भारी मज़हबी रुकावट दूर हुई। इधर कविता प्रकृति के क्षेत्र से नाना रूप-रंग और मूर्त्त पदार्थ लिए बिना एक क़दम आगे बढ़ने को तैयार नहीं। उधर मज़हब काग़ज़ी आँखें निकाले काले अक्षरों से घूर रहा था कि 'खबरदार! स्थूल इन्द्रियार्थों के प्रलोभन में न पड़ना। मूर्त्ति पूजा का पाप मन में न लाना।' ब्लेक को कल्पना में वस्तुओं का सूक्ष्म रूप (यहाँ के पुराने लोगों के 'लिंग-शरीर' के समान) मिल गया। स्थूलता के दोष का परिहार हो गया। मन भी छठी इन्द्रिय है, यह भावना स्पष्ट न होने से इन्द्रियासक्ति (Sensualism) के दोषारोपण की सम्भावना भी दूर हुई समझी गई। भक्त कवियों को नाना

---

* "The world of imagination is the wolrd of Eternity......The world of imagination is infinite and eternal, whereas the world of generation or vegetation is finite and temporal. There exist in that eternal world realities of everything which we see reflected in the vegetable glass of nature."

मनोहर रूपों के प्रति अनुराग प्रकट करने का लाइसेंस मिल गया। पूछ-ताछ होने पर वे कह सकते थे कि 'वाह! हम तो छाया के प्रेम द्वारा सारसत्ता का प्रेम प्रकट कर रहे हैं।' एक हिसाब से बड़ा भारी काम हुआ। पर खुदा का कौन सा ऐसा काम हैं जिसमें शैतान न कूदे? कल्पना में ईश्वरीय सारसत्ता के समान ही शैतानी सारसत्ता का आना-जाना भी रहता ही है। अपने सूक्ष्म रूप के कारण दोनों नित्य ही होंगी।

यह सब जाने दीजिए। यह देखिए कि कल्पना की नित्यता के प्रतिपादन में उसे परमार्थिक सत्ता बनाने में, प्रकृति और कल्पना के प्रत्यक्ष सम्बन्ध में कितना विपर्यय करना पड़ा है। यह तो प्रत्यक्ष बात है कि कल्पना के भीतर जो कुछ रहता है या आता है वह प्रकृति के ही विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है। अतः जब तक हम किसी 'वाद' का सहारा न लें तब तक यही कहेंगे कि कल्पना में आए हुए रूप ही प्रकृति के नाना रूपों के प्रतिबिम्ब हैं; प्रकृति के रूप कल्पना के प्रतिबिम्ब नहीं। इस 'कल्पनावाद' का कोई आभास न तो वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद में है; न कांट से लेकर हेगल तक जर्मन दार्शनिकों के 'प्रत्ययवाद' (Idealism) में। 'प्रत्ययवाद' इस दृश्य गोचर जगत् को ही प्रत्यय या भावना (Idea) कहता है। यह 'कल्पनावाद' वास्तव में सूफियों के यहाँ से गया है, यह हम आगे चलकर दिखाएँगे।

सूफियों के कल्पनावाद की गन्ध पाकर ब्लेक ने, कुछ कुछ बर्कले (Berkeley) के इशारे पर 'परम आत्मा' के समान दृश्य जगत् से परे 'परम कल्पना' का प्रतिपादन किया और मनुष्य-कल्पना को उस 'परम कल्पना' का अंग या अंशलब्धि माना, प्रकृति के नाना रूप जिसकी छाया हैं। कल्पना को उसने इलहाम बनाया और कवियों को खासे पैगम्बर। इस प्रकार उसने काव्य के परम पुनीत क्षेत्र में पाषंड का रास्ता सा खोल दिया।

साहित्य-पक्ष भी कुछ देखना चाहिए। रचना के समय कवि के हृदय में कल्पना के रूप में आलम्बन आदि रहते या आते ही हैं। जब कि यही काल्पनिक रूप ही वस्तुओं की सारसत्ता है, ब्रह्म का रूप है

तब अभिलाष की जगह कहाँ रही ? अभिलाष तो साक्षात्कार की इच्छा है। वह साक्षात्कार हो ही जाता है। प्रकृति के क्षेत्र में जिसकी हम छाया मात्र देखते हैं उसे हम कल्पना में मूल रूप में देख ही लेते हैं। भली बुरी किसी प्रकार की कल्पना मन में आई कि ईश्वर का दर्शन हुआ। इस प्रकार रहस्यवादी कवि के लिए वियोग-पक्ष—जिसकी इतनी दूरारूढ़ व्यंजना हुआ करती है—रह ही न गया।

अब संयोग-पक्ष में व्यंजित भावों की सचाई की परीक्षा कीजिए। यह हम बार-बार कह चुके हैं कि कल्पना में आए हुए रूप प्रकृति ही के हैं, बाहर ही के हैं और गोचर हैं। कल्पना की सारी रूप-सामग्री बाह्य जगत् की ही होती है। कल्पना उसकी केवल तरह-तरह की योजना किया करती है। प्रकृति के बाहरी रूप-रंग आदि हमें मुग्ध कर चुके रहते हैं तभी उनकी काल्पनिक योजना में हमारी वृत्ति रमती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही एक घर में बंद रखा जाय, तो उसकी कल्पना में दीवारों और खंभों के सिवा और कुछ नहीं आ सकता। इससे सिद्ध है कि हमारे भाव वास्तव में बाह्य प्रकृति के गोचर रूपों ही के प्रति होते हैं, इसी लिए कल्पना में उनकी छाया भी हमें भाव-मग्न करती है। हमारे हृदय का सीधा लगाव बाह्य प्रकृति के गोचर रूपों से ही होता है।

इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो रहस्यवादी जो कुछ सुन्दर, रमणीय और भव्य रूप-योजना करेगा वह वास्तव में या तो बाह्य प्रकृति के प्रेम द्वारा प्रेरित होगी अथवा प्रेम द्वारा प्रेरित ही न होगी। पर उसमें इस बात को स्वीकार करने का साहस ही नहीं होता। इससे पाठक के मन में वह यह झूठी प्रतीति उत्पन्न करना चाहेगा कि उसके भाव इन छाया-त्मक रूपों के प्रति बिल्कुल नहीं हैं; इनके परे जो अगोचर और अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता है उसके प्रति हैं। वह यह कहकर ही रह जाता तब तो कला के क्षेत्र में वैसी गड़बड़ी न होती। पर यह प्रतीति उत्पन्न करने के लिए वह अपनी रचना का स्वरूप भी कुछ विशेष प्रकार का रखेगा। उसमें कुछ अलौकिकता, अस्वाभाविकता, देश-काल का अतिक्रम, अनु-भूति की विचित्रता—जो बिल्कुल झूठी होगी—लाने का भरपूर प्रयत्न

करेगा। बातचीत में वह इस प्रयत्न तक को अस्वीकार करेगा; कहेगा कि सब भावना इसी रूप में परोक्ष जगत् से आकर मेरे हृदय में जबरदस्ती घुस गई है। पर वास्तव में इसकी प्रतीति उत्पन्न करने के लिए भी कि भावना इसी रूप में एकबारगी आई है, उसे पूरा श्रम करना पड़ता है, जैसा कि घोर रहस्यवादी कवि ईट्स (Yeats) तक ने कहा है।*

हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत् से है। इसी बात के आधार पर सारे संसार में रस-पद्धति चली है और सच्चे स्वाभाविक रूप में चल सकती है। मजहबी सुबीते के लिए अनुभूति के स्वाभाविक क्रम का विपर्यय करने से—मूल आलम्बनों को छाया और छाया को मूल आलम्बन बनाने से—कला के क्षेत्र में कितना आडम्बर खड़ा हुआ है, इसका अंदाजा ऊपर के ब्योरे से लग सकता है।

कल्पना की यह लोकोत्तर व्याख्या ब्लेक की अपनी उपज नहीं थी, यह हम पहले कह आए हैं। यह उसने सूफियों से ज्यों की त्यों ली थी। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने सूफियों के सिद्धान्त पर जो एक छोटी सी पुस्तक (रिसालए हकनुमा) संकलित की थी उसमें साफ यही बात लिखी है। देखिए—

"दृश्य जगत् में जो नाना रूप दिखाई पड़ते हैं वे तो अनित्य हैं पर उन रूपों की जो भावनाएँ या कल्पनाएँ होती हैं वे अनित्य नहीं हैं। वे कल्पना-चित्र नित्य हैं। इसी कल्पना रूपी चित्र-जगत् (आलमे मिसाल) से इस आत्म-जगत् को जान सकते हैं जिसे 'आलमे गैब

---

* I said "A line will take us hours may be;
Yet if it does not seem a moment's thought,
Our stitching and unstitching has deen naught."

ईट्स ने इस बात का खंडन जोर के साथ किया है कि कवियों में भावना एकबारगी आती जाती है और वे लिखते जाते हैं। स्वयं ईट्स अपनी कविताओं की बहुत काँट-छाँट किया करते हैं। यहाँ तक कि दूसरे संस्करण में उनकी बहुत-सी कविताएँ बदली हुई मिलती हैं।

और 'आलमे ख्वाब' भी कहते हैं। आँख मूँदने पर किसी वस्तु का जो रूप दिखाई पड़ता है वही उस वस्तु की आत्मा या सारसत्ता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की आत्मा उन्हीं रूपों की है जो रूप बाहर दिखाई पड़ते हैं। भेद इतना ही है कि अपनी सारसत्ता में स्थित रूप पिंड या शरीर से मुक्त होते हैं। सारांश यह कि आत्मा और बाह्य रूपों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध है। स्वप्न की अवस्था में आत्मा का यही सूक्ष्म रूप दिखाई पड़ता है। उस अवस्था में आँख, कान, नाक आदि सबकी वृत्तियाँ रहता हैं, पर स्थूल रूप नहीं रहते।"

ब्लेक ने पैगम्बरी झोंक में रहस्यवाद की बहुत-सी कविताएँ लिखीं जिनमें 'येरुशलम' मुख्य है। इसके सम्बन्ध में उसने लिखा—"इसके रचयिता तो नित्य लोक में हैं, मैं तो केवल सेक्रेटरी या खास-क़लम हूँ। मैं इसे संसार का सबसे भव्य काव्य समझता हूँ।" पर दुनिया की राय इससे उलटी हुई और वही राय ठीक ठहरी। ब्लेक की और कविताएँ अच्छी हुईं; पर रहस्यवाद की रचनाएँ निकम्मी ठहराई गईं।*

ब्लेक के ५८ वर्ष पीछे सन् १८८५ में जो नया 'प्रतीकरहस्यवाद' उठा उसकी प्रवृत्ति भी प्रायः यही चली आती है। कल्पना को एक प्रकार का इलहाम कहना, एक की कल्पना का दूसरे के अन्तःकरण में अज्ञात रूप से प्रवेश बताना, बैठे-बैठे अन्य देश और अन्य काल की घटनाएँ देखना, असीम-ससीम का राग अलापना, ये सब बातें आजकल के रहस्य-

* Of this, he said, he was merely the secretary; "the authors are in Eternity. I consider it the grandest poem this world contains". Unfortunately the world's opinion was radically different, and its opinion was entirely correct. The mystic writings which form so large a part of Blake's output were valueless.

—A. B. De Mille: "Literature in the Ceutury," (The Nineteenth Century Series)

वादी कवि ईट्स (W. B. Yeats) की पुस्तक (Ideas of Good and Evil) में मौजूद हैं। यह साम्प्रदायिक प्रवृत्ति कहाँ तक शुद्ध काव्यदृष्टि प्रदान करने में सहायक हो सकती है, विचारने की बात है।

यह ठीक है कि भिन्न भिन्न रहस्यवादी कवियों की दृष्टि में थोड़ा-बहुत भेद रहता है, कुछ कवि 'लोकवाद' भी लिए रहते हैं पर यह भी उतना ही ठीक है कि सब इस दृश्य और गोचर जगत् से परे एक अभौतिक जगत् की ओर झाँकने का दावा करते हैं इस सम्प्रदाय के वर्त्तमान कवियों में एक मिस मकाले (Rose Macaulay) हैं जिन्होंने सन १९१४ ई० में 'दो अन्ध देश' (The Tow Blind Countries) नाम की एक छोटी सी पुस्तक में अपनी कविताओं का संग्रह निकाला है इसमें उन्होंने नाना सुन्दर रूपों और व्यापारों से जगमगाते हुए इस भौतिक जगत् का बड़ी सहृदयता से निरीक्षण किया है, पर इसे चारों ओर वेष्टित किए हुए एक दूसरा मंडल या जगत् भी उन्हें दिखाई पड़ा है, जो भौतिक न होने पर भी सत्य है। इस अभौतिक जगत् का उन्हें इतना प्रत्यक्ष आभास मिलता है कि कभी कभी वे सन्देह में पड़ जाती हैं कि वे दोनों में से किस जगत् की हैं। उनके देखने में नाना कौतुकपूर्ण रूपों से युक्त इस छायामय जगत् में आत्मा एक परदेसी की तरह घूमती-फिरती आ जाती है। यहाँ वह ज्ञानद्वार की दूसरी ओर से (अर्थात् अगोचर जगत् से) किसी और ही जगत् के लोगों की परदे में दबी हुई सी वाणी आती हुई सुना करती है। *

* Only through a creek in the door's blind face
He would reach a thieving hand,
To draw some clue to his own strange place
From the other land.
But his closed hand came back emptily,
As a dream drops from him who wakes ;
And naught migh the know but how a muffled sea
In whispers breaks.

हम समझते हैं कि इतने से इस प्रकार की कविता का साम्प्रदायिक रूप स्पष्ट हो गया होगा। अतः रहस्यवाद की कविता के सम्बन्ध में हिन्दी-वालों के बीच यह भ्रान्ति फैलाना कि सारे योरप में इसी प्रकार की कविता हो रही है, यही वर्त्तमान युग की कविता का स्वरूप है, घोर साहित्यिक अपराध है। रहस्यवाद की कविता एक छोटे से सम्प्रदाय के भीतर की वस्तु है। इंगलैंड आयर्लैंड को ही लीजिए। मेरी स्टर्जन (Mary C. Sturgeon) ने अभी वर्त्तमान अँगरेज़ी कवियों का जो परिचय (Studies of Contemporary Poets) प्रकाशित किया है उसमें बीस-बाइस कवि—जिनमें सरोजिनी नायडू भी हैं—विशेष विवरण के साथ लिए गए हैं। इनमें रहस्यवादी केवल दो या तीन हैं।

पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र में रहस्यवाद किस प्रकार एक साम्प्रदायिक वस्तु समझा जाता है और उसके प्रति अधिकांश साहित्यिकों और शिक्षित पाठकों की कैसी धारणा रहती है, इसका पता एक इसी बात से लग सकता है कि मेरी स्टर्जन की उपर्युक्त पुस्तक (Studies of Contemporaay Poets) में मिस मकाले की कविता के परिचय के आरम्भ में, उसे 'रहस्यवाद' की बताकर, यह भी कहना पड़ा है कि—

"पर इससे (रहस्यवाद की कविता होने से) किसी को यह आशंका न होनी चाहिए कि अब निम्न कोटि की कविता का पाषंड सामने रखा जायगा"।*

On either side of a gray barrier.
  The two blind countries lie ;
But he knew not which held him prisoner,
  Nor yet know I .

* It (the book) is curiously interesting ; since it may be regarded as the testament of mysticism for the year of its appearance, nineteen hundred and fourteen. That is indeed the most important face

रहस्यवाद की कविताओं में सबसे अधिक विरक्ति-जनक दो बातें होती हैं—भावों में सचाई का अभाव (Insincerity) और व्यंजना की कृत्रिमता (Artificiality)। उनमें व्यंजित अधिकांश भावों को कोई हृदय के सच्चे भाव नहीं कह सकता। अतः उनकी व्यंजना की उछल-कूद भी एक भद्दी नक़ल सी जान पड़ती है। भावों की झूठी नक़ल का पता जल्दी लग जाता है। प्रत्येक सहृदय सच्ची कविता पढ़ते समय कवि या आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। जहाँ अधिकांश पाठकों में इस प्रकार के तादात्म्य का अभाव देखा गया कि बनावट का निश्चय स्वभावतः हो जाता है। पर साथ ही यह बात भी है कि चाहे किसी प्रकार की रचना हो जब वह एक फ़ैशन के रूप में चला दी जाती है तब कुछ लोग बिना किसी प्रकार की अनुभूति के, यों ही रसज्ञ समझे जाने के लिए ही, वाह वाह कर दिया करते हैं। इस प्रकार के लोग सब दिन रहे और रहेंगे। ऐसे ही लोगों के लिए उर्दू के एक पुराने शायर—शायद नासिख़—ने कुछ ऊटपटाँग शेर बना रखे थे। जो उनके पास शेर सुनने की इच्छा से जाता था, उसे पहले वे ही शेर वे सुनाते थे। यदि सुननेवाला 'वाह वाह' कहने लगता तो वे जान लेते थे कि वह मूर्ख है और उठकर चले जाते थे।

मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है। एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है। इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं। भाव-पक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों या योग-क्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर लोकसामान्य भावभूमि पर प्राप्त होना (Impersonality and detachment); कला या विधान-पक्ष में उस अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा-कौशल।

about it ; though no one need begin to fear that he is to be fobbed off with inferior poetry on that account.

प्रेषण के लिए कवि में अनुभूति का होना पहली बात है, इसमें सन्देह नहीं; पर उस अनुभूति को जिस रूप में कवि प्रेषित करता है वह रूप उसे बहुत कुछ इस कारण दिया जाता है कि उसे प्रेषित करना रहता है।* यह हम पहले कह चुके हैं कि जिस रूप में कवि के हृदय में अनुभूति होती है ठीक उसी रूप में शब्दों द्वारा प्रेषित नहीं की जा सकती।

इस विलायती 'प्रतीक-रहस्यवाद' के क्षेत्र में प्रकृति का क्या स्थान है, यह स्पष्ट है। जब कि प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों को हम उसकी छाया मानकर चलेंगे जिसके प्रति हमारा प्रेम उमड़ रहा है, तब वे रूप और व्यापार उद्दीपन मात्र होंगे। काव्य में उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आलम्बनगत। यदि हम छाया को वस्तु के बाहर न मानकर, उसी का कुछ मानें, तो भी वह आलम्बनगत उद्दीपन मात्र होगी। इस प्रकार प्रकृति के साथ हमारा सीधा प्रेम-सम्बन्ध योरप के इस रहस्यवाद के काव्य में न माना जायगा।

यह समझ रखना चाहिए कि काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए ही फ़ारस, अरब तथा योरप में हुई जहाँ पैग़म्बरी मतों के कारण मनुष्य का हृदय बँधा बँधा ऊब रहा था। जिस प्रकार मनुष्य की बुद्धि का रास्ता रुका हुआ था, उसी प्रकार हृदय का भी। प्रकृति के प्रति भक्तों के भाव जिस हद तक और जिस गहराई तक जाना चाहते थे, नहीं जाने पाते थे। प्रकृति के मूर्त्त पदार्थों के प्रति अपने गहरे से गहरे भाव की व्यंजना पूरे धार्मिक या भक्त ऐसे ही शब्दों में कर सकते थे—"उस परमात्मा की कारीगरी भी क्या ही अद्भुत है; कैसे कैसे रूप, कैसे कैसे रंग उसने सजाए हैं!" अपने भावों को सीधे अर्पित करते हुए उन्हें नरपूजा, वस्तु-पूजा या मूर्त्ति-पूजा के

* An experience has to be formed, no doubt before it is communicated; but it takes the form it does, because it may have to be communicated.

—1. A Richards: 'Principles of Literary Criticism'.

पाप का ध्यान होता था। पर उक्त प्रकार की व्यंजना से ही मनुष्य की भावतुष्टि कहाँ तक हो सकती थी? यहूदियों और पुराने ईसाइयों में धर्मसम्बन्धी बातों को मूर्त्त रूप में प्रकट करने के लिए साध्यवसान रूपकों (Allegories) का प्रचार था। पर साध्यवसान रूपक एक भद्दा विधान है। इसी से अद्वैतवाद, सर्ववाद (Pantheism), प्रतिबिम्बवाद आदि कई वादों का मिला-जुला सहारा लेकर उन्होंने अपने हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों के लिए गोचर भूमि तैयार की। उन्होंने प्रकृति के नाना रूपों के साथ परमात्मा के कर्तृत्व-सम्बन्ध के स्थान पर थोड़े-बहुत स्वरूप-सम्बन्ध की स्थापना की—पर किस प्रकार डरते डरते यह पूर्व विवरण से स्पष्ट है।

फ़ारस की सूफ़ी शायरी में बाह्य जगत् की सुन्दर वस्तुओं का प्रतीक 'बुत' (देवमूर्त्ति) रहा। बुत-परस्ती के इलजाम के डर से भक्त कवि लोग अपने प्रेम को सीधे बुतों (प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं) के प्रति न बताकर 'बुतों के परदे में छिपे हुए खुदा' के प्रति बताया करते थे। फ़ारस में बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य-प्रसार की ओर दृष्टि बहुत परिमित रही। इससे वहाँ प्रतीक इने-गिने रहे। सुन्दर मनुष्य का ही प्रतीक लेकर वे अधिकतर चले। पर योरपवालों के प्रकृति-निरीक्षण का विस्तार बहुत बड़ा था इससे वहाँ जब रहस्यवाद गया तब वहाँ की विस्तृत काव्यदृष्टि के अनुसार उसमें मूर्त्त विधान अधिक वैचित्र्यपूर्ण हुआ। ब्लेक को रूपात्मक बाह्य जगत् और मनुष्य की कल्पना के प्रत्यक्ष सम्बन्ध के विपर्यय का सिद्धान्त-रूप में, बड़े ज़ोर शोर से प्रतिपादन करना पड़ा। भक्तिकाव्य में रहस्यवाद की उत्पत्ति के धार्मिक और सामाजिक कारण पर जो विचार करेगा उसे यह लक्षित हो जायगा कि यह सब द्राविड़ी प्राणायाम मजहबी तहज़ीब, धार्मिक शिष्टता (Religious courtesy) के अनुरोध से करना पड़ा।

भारतीय भक्तिकाव्य को 'रहस्यवाद' का आधार लेकर नहीं चलना पड़ा। यहाँ के भक्त अपने हृदय से उठे हुए सच्चे भाव भगवान् की प्रत्यक्ष विभूति को बिना किसी संकोच और भय के—बिना प्रतिबिम्बवाद आदि

वेदान्ती वादों का सहारा लिए—सीधे अर्पित करते रहे। मुसलमानी अमलदारी में रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण-भक्ति' की बानी चली वह बाहर से—अरब और फ़ारस की ओर से—आई थी। वह देशी वेश में एक विदेशी वस्तु थी। इधर अंगरेज़ों के आने पर ईसाइयों के आन्दोलन के बीच जो ब्रह्मो-समाज बंगाल में स्थापित हुआ उसमें भी 'पौत्तलिकता'* का भय कुछ कम न रहा। अतः उसकी विनय और प्रार्थना जब काव्योन्मुख हुई तब उसमें भी 'रहस्यवाद' का सहारा लिया गया। सारांश यह कि रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है; काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं।

भारत में काव्य-क्षेत्र इस प्रकार के वादों से बिल्कुल अलग रखा गया। यहाँ 'रहस्य' और 'गुह्य' योग, तन्त्र आदि के भीतर ही रहे। भक्तिमार्ग के सिद्धान्त-प्रतिपादन में भी इधर उधर इनकी कुछ झलक रही। पर कविता में भक्तों की भी वाग्धारा ने स्वाभाविक भाव-पद्धति का ही अनुसरण किया। उसके भीतर न तो उन्होंने रहस्यवाद का

---

* इस शब्द का प्रचार ब्रह्मो-समाज में खूब था। यह अँगरेज़ी के Idolatory शब्द का अनुवाद है। इसी प्रकार महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रवर्त्तित 'सत्यं, शिवं 'सुन्दरम्' भी—जिसे आजकल कुछ लोग उपनिषद्-वाक्य समझकर 'हमारे यहाँ भी कहा है' कहकर उद्धृत किया करते हैं—अँगरेजी के The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है। इस पदावली का प्रचार योरप के काव्य-समीक्षा-क्षेत्र में पहले बहुत रहा है, जैसा कि रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने कहा है—

"Thus arises the phantom problem of the aesthetic mode or aesthetic state-a legacy from the days of abstract investigation into the Good, the Beautiful and the True".

हमें तो सब प्रकार की गुलामी से 'साहित्यिक गुलामी' का दृश्य सबसे खेद-जनक प्रतीत होता है।

सहारा लिया, न प्रतिविम्बवाद का—यद्यपि वेदान्त के और वादों के साथ प्रतिविम्बवाद का निरूपण पहले भारतीय दर्शन में ही हुआ। महाभारत के समय में ही यहाँ भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा हुई। वासुदेव या भागवत सम्प्रदाय के भीतर नर-नारायण या भगवान् के अवतार श्रीकृष्ण की उपासना चली। नर में नारायण की पूर्ण कला का दर्शन आरम्भ में 'गुह्य या रहस्य के रूप में ही कुछ लोगों ने किया, यह ठीक है। पर 'रहस्य' की समाप्ति वहीं पर हो गई। अवतारवाद मूल में तो रहस्यवाद के रूप में रहा, पर आगे चलकर वह पूर्ण प्रकाशवाद के रूप में पल्लवित हुआ। रहस्य का उद्घाटन हुआ और राम-कृष्ण के निर्दिष्ट रूप और लोक विभूति का विकास हुआ। उसी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति या कला को लेकर हमारा भक्ति-काव्य अग्रसर हुआ; छिपे रहस्य को लेकर नहीं।

श्रीकृष्ण ने नर या नरोत्तम के रूप में आकर कहा कि "सब भूतों के भीतर रहने वाली आत्मा मैं हूँ"।* अर्जुन को इस रहस्य पर विस्मय हुआ। पर एक ओर का वह रहस्य और दूसरी ओर का वह विस्मय, भक्ति या काव्यमयी उपासना के आधार नहीं हुए। उसके लिए भगवान् को फिर कहना पड़ा कि "मैं पर्वतों में मेरु हूँ, ऋतुओं में वसन्त हूँ और यादवों में वासुदेव हूँ"।† इस प्रकार जब प्रकृति की विशाल वेदी पर—अव्यक्त रूप में उसके भीतर (Immanent) या बाहर (Transcendent) नहीं—भगवान् के व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा हो गई तब काव्यमयी उपासना या भक्ति की धारा फूटी जिसने मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन को—उसके किसी एक खंड या कोने को ही नहीं—रसमय कर दिया।

श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त दोनों कथनों के भेद पर सूक्ष्म विचार करने पर भारतीय भक्तिकाव्य का स्वरूप खुल जायगा। पहले कथन में दो बातें

* [अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः—गीता, १०।२०।

† [मेरुः शिखरिणामहम्। ऋतूनां कुसुमाकरः। वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि।
—गीता, १०

है—"सब भूतों के भीतर मैं हूँ" और "अव्यक्त रूप में हूँ"। ये दोनों बातें मनुष्य-हृदय के संचरण-क्षेत्र से दूर की थीं। जिज्ञासापूर्ण नर ने पूछा, "जिसके भीतर आप हैं, जो नाना रूपों में हमें आकर्षित किया करता है, वह क्या है ?" उत्तर मिला "वह मैं ही हूँ—मैं छिपा हुआ भी हूँ और तुम्हारे सामने भी हूँ। मेरे दोनों रूप शाश्वत और अनन्त हैं" नर ने कहा "बस, इसी सामनेवाले रूप की नित्यता और अनन्तता ज़रा मुझे दिखा दीजिए"। नारायण ने दिक्-काल का परदा हटाकर अपना व्यक्त, गोचर और अव्यय विश्वरूप सामने कर दिया।*

सारा बाह्य जगत् भगवान् का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह नित्य है, अतः 'सत्' है; अत्यन्त रंजनकारी है, अतः 'आनन्द' है। अतः इस 'सदानन्द स्वरूप' का वह प्रत्यक्ष अंश जो मनुष्य की रक्षा में (बना रहने देने अर्थात् सत् को चरितार्थ करने में) और रंजन में (सुख और मंगल का विधान करने में) अपार शक्ति के साथ प्रवृत्त दिखाई पड़ा, वही उपासना के लिए, हृदय लगाने के लिए, लिया गया। जिसमें शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों का योग चरमावस्था में दिखाई पड़ा वही प्राचीन भारतीय भक्तिरस का आलम्बन हुआ। कर्मक्षेत्र में प्रतिष्ठित यह आलम्बन मनुष्य के अनेक-भावात्मक हृदय के साथ पूरा पूरा बैठ गया; कोई कोना छूटने न पाया। "मैं ऋतुओं में वसन्त हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ, † यादवों में कृष्ण हूँ" का संकेत यही है। राम और कृष्ण की व्यक्त और प्रत्यक्ष कला को लेकर ही भारतीय भक्तिकाव्य अब तक चला आ रहा है; ब्रह्म की अव्यक्त या परोक्ष सत्ता को लेकर नहीं।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने की बात है कि भक्तिक्षेत्र में राम या कृष्ण की प्रतिष्ठा रहस्य बतानेवाले 'सद्गुरु' या स्वर्ग का सँदेसा लानेवाले पैगम्बर के रूप में नहीं हैं; लोक के भीतर अपनी शक्तिमयी,

---

* [देखिए गीता, अध्याय ११, विश्वदर्शनयोग]

† [रामः शस्त्रभृतामहम्—गीता, १०।३१]

शीलमयी और सौन्दर्यमयी कला का प्रकाश करनेवाले के रूप में है। इसी लोकरञ्जक और लोकरंजक रूप पर भारतीय भक्त-मुग्ध होते आए हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी से जब किसी ने पूछा कि "आप कृष्ण की उपासना क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं? राम की उपासना क्यों करते हैं जो बारह ही कला के अवतार हैं?" तब उन्होंने बड़े भोलेपन के साथ कहा कि "हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ?" इस उत्तर द्वारा गोस्वामीजी ने भारतीय भक्ति का स्वरूप अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि यहाँ भक्तिकाव्य के क्षेत्र में भी अभिव्यक्तिवाद ही रहा; रहस्यवाद, प्रतिबिम्बवाद आदि नहीं। जो तुलसी, सूर आदि भारतीय पद्धति के भक्तों में भी रहस्यवाद सूँघा करते हैं उन्हें रहस्यवाद के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए, उसके इतिहास को देखना चाहिए। व्यक्ताव्यक्त, मूर्त्तामूर्त्त—ब्रह्म के इन दो रूपों या पक्षों—में से भारतीय भक्तिरस के भीतर व्यक्त और मूर्त्त पक्ष ही, जिसका हृदय के साथ सीधा लगाव है, लिया गया। इस रसविधान में जगत या प्रकृति ब्रह्म का रूप ही रही है; छाया, प्रतिबिम्ब, आवरण आदि नहीं। जो मनोहर रूपयोजना सामने लाई जाती है हृदय के भाव ठीक उसी के प्रति होते हैं; उसके भीतर (Immanent) या उसके बाहर (Transcendent) रहनेवाले किसी हाऊ के प्रति नहीं।

यह पहले दिखाया जा चुका है कि यह योजना प्रकृति के रूपों को लेकर ही होती है। कल्पना भी बाह्य जगत् के रूपों या उनके संवेदनों की छाया है। सीधे उन रूपों से या रूपात्मक संवेदनों से हम प्रेम कर चुके रहते हैं तभी उनकी छाया अर्थात् कल्पना में हमारा हृदय रमता है। जगत् का यह व्यक्त प्रसार ही भाव के संचरण का वास्तविक क्षेत्र है। इससे अलग मनुष्य-कल्पना की कोई वास्तव सत्ता नहीं; वह असत् है। क्षणिक विज्ञानवादी ह्यूम (Hume) का यह सिद्धान्त बहुत पक्का है कि इन्द्रियज ज्ञान (Impressions) ही सब प्रकार के ज्ञान के मूल हैं, वे ही विचार विचार होते हैं जो इनके आधार पर संव-

टित होते हैं। भाव के क्षेत्र में भी व्यक्त प्रसार की अनुभूति ही मूल है। यदि 'कल्पना' शब्द बहुत प्रिय हो तो यों कह सकते हैं कि यह नित्य और अनन्त गत्यात्मक दृश्य जगत् ही ब्रह्म की कल्पना है। मनुष्य की कल्पना तो इसी की एक विकृत और परिमित छाया है। अनन्त का जितना अंश पृथ्वी से लेकर आकाश तक बिना दूरबीन के दृष्टि दौड़ाने में ही हमारे सामने आ जाता है उसका शतांश भी एक बार में कल्पना के भीतर नहीं आ सकता! केवल 'असीम' और 'अनन्त' शब्द रखने या रटने से यह कभी नहीं कहा जा सकता कि असीम या अनन्त कल्पना के भीतर आया हुआ है, उसकी सचमुच अनुभूति हो रही है।

यह ठीक है कि किसी के सामने न रहने पर उसके प्रति जो प्रेमानुभूति होती है उसमें आलम्बन के स्थान पर उसकी कल्पनात्मक मूर्त्ति ही रहती है; पर उस मूर्त्ति या रूप का ग्रहण चित्रवत् ही होता है। उसके प्रत्यक्ष अर्थात् अधिक गोचर रूप में दर्शन, स्पर्श आदि की वासना बनी रहती है जिसकी अभिव्यक्ति कभी कभी अभिलाष के रूप में होती है। राम या कृष्ण का ध्यान करनेवाले भक्त को भी ध्यान में आई हुई काल्पनिक मूर्त्ति का आना ही साक्षात्कार नहीं समझ पड़ता। यदि ऐसा होता तो ध्यानपूर्वक अभिलाष का कुछ अर्थ ही न होता। सारांश यह कि भारतीय भक्ति-काव्य अनुभूति की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति को लेकर ही चला है; उसमें किसी 'वाद' के द्वारा विपर्यय करके नहीं। वह अभिव्यक्ति या प्रकाश की ओर उन्मुख है; रहस्य या छिपाव की ओर नहीं।

अच्छी तरह विचार करने पर यह प्रकट होगा कि 'अज्ञान का राग' ही अन्तर्वृत्ति को रहस्योन्मुख करता है। मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति में इस अज्ञान के राग का भी ठीक उसी प्रकार एक विशेष स्थान है जिस प्रकार ज्ञान के राग का। ज्ञान का राग बुद्धि को नाना तत्त्वों के अनुसन्धान की ओर प्रवृत्त करता है और उसी सफलता पर तुष्ट होता है। अज्ञान का राग मनुष्य के ज्ञान-प्रसार के बीच बीच में छूटे हुए अन्धकार या धुँधलेपन की ओर आकर्षित करता है।

तथा बुद्धि की असफलता और शान्ति पर तुष्ट होता है। अज्ञान के राग की इस तुष्टि की दशा में मानसिक श्रम से कुछ विराग सा मिलता जान पड़ता है और उस अन्धकार या धुँधलेपन के भीतर मन के चिर-पोषित रूपों की अवस्थिति के लिए दृश्य-सागर के बीच अवकाश मिल जाता है। शिशिर के अन्त में उठी हुई धूल छाई रहने के कारण किसी भारी मैदान के क्षितिज से मिले हुए छोर पर वृक्षावली की जो धुँधली श्यामल रेखा दिखाई पड़ती है उसके उस पार किसी अज्ञात दूर देश का बहुत सुन्दर और मधुर आरोप स्वभावतः आप से आप होता है। मनुष्य की सुदूर आशा के गर्भ में भरी हुई रमणीयता की कैसी मनोहर और गोचर व्यंजना उसके द्वारा होती है—

धुँधले दिगन्त में विलीन हरिदाभ रेखा,
किसी दूर देश की सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अन्तर मिटा है चिर,
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
भूत औ भविष्यत् की भव्यता भी सारी छिपी
दिव्य भावना सी वहीं भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही
माधुरी हो जीवन की कटुता मिटाती है।

इसी प्रकार दूर से दिखाई पड़ती हुई पर्वतों की धुँधली नीली चोटियाँ भी मनोवृत्ति को रहस्योन्मुख करती हैं और अपने भीतर कल्पना को रूप-विन्यास करने का अवसर देती हैं। पश्चिम दिगंचल की सान्ध्य स्वर्णधारा के बीच धूम्र, कपिश घन-द्वीपों से होकर जाता हुआ स्वर्ग का मार्ग सा खुला दिखाई पड़ता है। बिश्व की विशाल विभूति के भीतर न जाने कितने ऐसे दृश्य हमारी अन्तर्वृत्ति को रहस्योन्मुख करते हैं।

स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है इसमें सन्देह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनो-वृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि

और और अनुभूतियों के बीच कभी कभी, प्रकरण प्राप्त होने पर, किया करते हैं। पर किसी 'वाद' के साथ सम्बद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्तमार्ग (Creed) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

योरप के जिस 'रहस्यवाद' का संक्षिप्त परिचय हमने दिया है वह सिद्धान्ती या साम्प्रदायिक रहस्यवाद है। स्वाभाविक रहस्य-भावना उक्त वाद से सर्वथा भिन्न है। किसी 'वाद' के ध्यान से, साम्प्रदायिक सिद्धान्त के ध्यान से, जो कविता रची जायगी उसमें बहुत कुछ अस्वाभाविकता और कृत्रिमता होगी। 'वाद' की रक्षा या प्रदर्शन के ध्यान में कभी कभी क्या, प्रायः रस-सचार का प्रकृत मार्ग किनारे छूट जायगा।

सिद्धान्ती या साम्प्रदायिक रहस्यवादियों के अतिरिक्त योरप के प्रसिद्ध कवियों में भी बहुत से ऐसे कवि हुए हैं जिनकी कुछ रचनाओं के बीच बीच में बड़ी सुन्दर स्वाभाविक रहस्य-भावना पाई जाती है। वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) और शेली (Shelley) इसी प्रकार के कवि थे। इनकी रहस्य-भावना स्वाभाविक पद्धति पर होने के कारण हृदय में सच्ची अनुभूति उत्पन्न करती है। जिन तथ्यों या दृश्यों को लेकर इनकी वृत्ति रहस्योन्मुख हुई है उनके समक्ष सहृदय मात्र रहस्य का अनुभव कर सकते हैं। बात यह है कि ये कवि रहस्यवादी नहीं। ये रहस्य को 'वाद' के रूप में लेकर नहीं चले हैं। इन्होंने सच्ची स्वाभाविक रहस्य-भावना की व्यंजना की है। इनकी भावना अभिव्यक्ति का सूत्र ग्रहण करके ही कभी कभी रहस्योन्मुख हुई है। जगत् रूपी अभिव्यक्ति से तटस्थ, जीवन से तटस्थ, भावभूमि से तटस्थ कल्पना की झूठी कलाबाजी, भावों की नकली उछल-कूद और वैचित्र्य-विधायक कृत्रिम शब्दभंगी—जो आधुनिक रहस्यवादियों में अभिव्यंजनावादियों (Expressionishts) के प्रभाव से आई है—वर्ड्सवर्थ और शेली की कविता का लक्षण नहीं है।

वर्ड्सवर्थ की कविता ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति प्रकृति से सीधा प्रेम-सम्बन्ध रखती है। कहीं कहीं उसमें सर्ववाद (Pantheism) की भी झलक है, परोक्ष जगत् की ओर भी इशारा है, पर उसकी विचरण-

भूमि प्रकृति का प्रकाशित क्षेत्र ही है। दूर तक फैले मैदान में कहीं धूप कहीं छाया बारी बारी से पड़ती देख वर्ड्सवर्थ ने अपने लिए प्रकाश का क्षेत्र चुना और उनके साथी कालरिज (Coleridge) ने छाया का। पर कालरिज की छाया इस जगत् पर, इस जीवन पर, पड़ी हुई छाया थी। वह किसी 'वाद' के अनुरोध से सारे जगत् को छाया और अपनी कल्पना को ईश्वरीय सत्ता बताता हुआ नहीं चला। उसका कहना यह था कि मनुष्य चारों ओर एक अज्ञात रहस्य से घिरा हुआ है जिसका परोक्ष विधान उसके जीवन का रंग बदला करता है। कालरिज का प्रस्तुत विषय जीवन है; परोक्ष रहस्य उसके बदलते हुए रंगों की हेतु-भावना के रूप में है। इससे कालरिज को भी हम सिद्धान्ती रहस्यवादी न कहकर स्वाभाविक रहस्य-भावना-सम्पन्न कवि मानते हैं।

इधर हिन्दी में कभी कभी रहस्यवाद के सम्बन्ध में जो लेख निकलने लगे हैं उनमें से बहुतों में एक साथ बहुत से नामों की उद्धरणी—जैसे वर्ड्सवर्थ, शेली, कालरिज, ब्राउनिंग यहाँ तक कि कीट्स (Keats) भी—मिलती है। इनमें वर्ड्सवर्थ तो प्रकृति के सच्चे उपासक थे। वे प्रकाश या अभिव्यक्ति को लेकर चले थे। उनका 'रहस्यवाद' से कोई सम्बन्ध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के प्रति जैसी सच्ची भावुकता उनकी थी अँगरेजी के पिछले कवियों में किसी की न थी। एक छोटी सी कविता में उन्होंने इस बात पर बहुत खेद प्रकट किया है कि ऐसे मधुर और प्रिय रूपों को नित्य प्रति सामने पाकर भी अब लोगों के हृदय उनकी ओर आकर्षित नहीं होते। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि "इससे अच्छा तो यह था कि हम लोग ईसाई न होकर पुराने मूर्त्ति-पूजक ही रहते और प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय के योग का अनुभव करते।" उनका प्रकृति-प्रेम कुतूहल, विस्मय और सुख-विलास की मनोवृत्ति से सम्बद्ध न था। वे अलौकिक, असामान्य, अद्भुत और भव्य चमत्कार ढूँढ़नेवाले न थे। नित्यप्रति सामने आनेवाले चिरपरिचित सीधे-सादे सामान्य दृश्यों के प्रति अपने सच्चे अनुराग की व्यंजना जैसी वर्ड्सवर्थ ने की है, और जगह नहीं मिलती।

जो एक पुरानी गढ़ी के आसपास लगे पेड़ों के झुरमुट के कटवाने पर दुखी होता है, ऐसे सच्चे प्रकृति-प्रेमी कवि को 'रहस्यवादी' कहना उसकी अप्रतिष्ठा करना है। 'एक पथिक को शिक्षा' (Admonition to a Traveller) नाम की एक छोटी सी कविता में वर्ड्सवर्थ ने एक नागरिक पथिक को किसी ग्राम में छोटे से नाले के तट पर, थोड़ी सी गोचारण भूमि के बीच खड़े एक छोटे से झोंपड़े को ललचती आँखों से देखते देखकर कहा है—"उस घर का लालच न कर। बहुत से तेरे ऐसे लोग इसी तरह ताकते और सोचते-विचारते रह जाते हैं। उनकी चले तो व प्रकृति की पुस्तक के इस बहुमूल्य पत्रे को अपवित्र निष्ठुरता से नोंच फेंकें। यह समझ रख कि यह घर यदि आज तेरा हो जाय तो जो कुछ आकर्षण इसमें है वह सब हवा हो जाय। इसकी छत, खिड़की, दरवाजे, चढ़ी हुई फूल की लताएँ सब दीनों की पवित्र वस्तुएँ हैं।" प्रकृति के प्रति जो भाव वर्ड्सवर्थ का था उसी को मैं सच्चे कवि का भाव मानता हूँ। सदा असामान्य, अद्भुत और भव्य चमत्कार ढूँढ़नेवाली दृष्टि को मैं मार्मिक काव्यदृष्टि नहीं मानता।

जैसा पहले कहा जा चुका है केवल कहीं कहीं वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति की अन्तरात्मा (Spirit of Nature) की ओर संकेत किया है; एक-आध जगह प्रकृति के ही किसी तथ्य के भीतर परोक्ष जगत् का भी आभास दिया है, जैसे, 'बाल्यावस्था की स्मृति द्वारा अमरत्व का संकेत' (Ode on Intimations of Immortality from Recollections of Early Childhood) नाम की कविता में। उसमें कवि कहता है—

"हमारा जन्म एक प्रकार की निद्रा या विस्मृति है। जीवन के नक्षत्र हमारी आत्मा का—जिसका उदय हमारे साथ होता है—विधान कहीं अन्यत्र ही हुआ करता है वह किसी दूर देश से आती है। आने में न तो उस में एकदम विस्मृति ही रहती है, न शुद्धरूपता ही। ईश्वर के पास से हम दिव्य और भव्य घन-खंडों में से होते हुए आते हैं। बचपन में हमारे चारों ओर स्वर्ग का आभास कुछ कुछ बना रहता है। पर

ज्यों ज्यों बालक बढ़ता जाता है त्यों त्यों इस भव्य कारागार की छाया में बंद होता जाता है। फिर भी उस ज्योति का आभास उसे कुछ काल तक अपने आनन्द में मिलता रहता है। युवावस्था की ओर बढ़ता हुआ वह यद्यपि अपने उदय की दिशा से दूर होता जाता है, पर प्रकृति का पुजारी तब भी बना रहता है। उसका मार्ग दिव्य सौन्दर्य की भावना से जगमगाता है। अन्त में जब वह बढ़कर पूरा मनुष्य हो जाता है तब आनन्द की वह आभा जीवन के मध्याह्न के प्रखर प्रकाश में विलीन हो जाती है।"*

---

* Our birth is but a sleep and forgetting
The soul that rises with us, our life's star,
Hath had elsewhere its setting ,
And cometh from afar ;
Not in entire forgetfulness,
And not in utter nakedness,
But trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home :
Heaven lies about us in our infancy !
Shades of the prison house begin to close
Upon the growing boy,
But he beholds the light and whence it flows
He sees it in his joy ;
The youth, who daily farther from the east
Must travel, still is Nature's priest,
And by the vision splendid
Is on his way attended ;
At length the man perceives it die away,
And fade into the light of common day.

कैसी स्वाभाविक रहस्य-भावना है! इसका संकेत कवि को अभिव्यक्ति के क्षेत्र के भीतर ही मिला है इसमें किसी 'वाद' के भीतर निरूपित तथ्य की व्यंजना प्रकृति के रूपों और व्यापार से जबरदस्ती नहीं कराई गई है। न असीम और ससीम का द्वन्द्व-दर्शन है; न अव्यक्त और अगोचर की झाँकी है; न वेदना का अट्टहास और उन्मत्त नृत्य है। जिस आनन्द-लोक की ओर संकेत है वह केवल लोकान्तर है। यह संकेत जीवन के जिस वास्तव तथ्य से कवि को मिला है, उसका स्पष्ट उल्लेख आगे चलकर है—

"अपने लड़कपन के दिनों का स्मरण कीजिए! वे ही हरे-भरे मैदान, अमराइयाँ और नाले आदि जो अब साधारण दृश्य जान पड़ते हैं, कैसी आनन्दमयी दिव्य प्रभा से मंडित दिखाई पड़ते थे! वे फूल अब भी सुन्दर लगते हैं, चन्द्रमा अब भी शरदाकाश में सुहावना लगता है, पर इन सब की वह दिव्य आभा अब पृथ्वी पर कहाँ जो लड़कपन में हृदय को आनन्दोल्लास से भर देती थी।"

शेली की मनोवृत्ति वर्ड्सवर्थ की मनोवृत्ति से बहुत भिन्न थी। उनकी वृत्ति प्रकृति के असामान्य, अद्भुत, भव्य और अधिक प्राचुर्यपूर्ण खंडों में रमती थी, इसी से उनमें कल्पना का आधिक्य है। सामान्य से सामान्य चिरपरिचित दृश्यों के माधुर्य की मार्मिक अनुभूति उनमें न थी। दूसरी बात यह है कि वे कुछ अपने बँधे हुए विचार मन में लेकर प्रकृति के क्षेत्र में प्रवेश करते थे। वे मनुष्यजाति की वर्त्तमान स्थिति में सिर से पैर तक उलट-फेर चाहते थे। राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक सब प्रकार की व्यवस्थाओं और बन्धनों को वे छिन्न भिन्न देखना चाहते थे। पर इस प्रकार की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ रहते हुए भी प्रकृति की रूप-विभूति का ऐसा शृंखलाबद्ध और संश्लिष्ट चित्रण थोड़े से इने-गिने कवियों में ही मिल सकता है।

'अलास्टर' (Alastor, or the Spirit of Solitude) में एकान्त सुख-शान्ति का अन्वेषी एक कवि सारे भूमंडल पर अकेला भ्रमण करता है। शेली उसे ऐसी ऐसी भव्य, विशाल, अदृष्टपूर्व और

अद्भुत चमत्कारपूर्ण दृश्यावलि के बीच से ले गए हैं कि पाठक पढ़ कर उनमें गड़ सा जाता है प्रकृति के ऐसे ऐसे गूढ़ गह्वरों तथा अनुपम और कमनीय क्रीड़ा-क्षेत्रों में वह कवि पहुँचाया गया है जहाँ मनुष्य ने कभी पैर नहीं रखा। एक नमूना देखिए—

"प्रकृति के गुप्त से गुप्त पथों में वह उसकी छाया की तरह जाता है—जहाँ ज्वालामुखी से उठी हुई लपटकी रक्त आभा तुषारमंडित पर्वत-शिखर के ऊपर छाई हुई है।......जहाँ ऐसी अन्धेरी गुप्त गुफाएँ हैं जो ज्वलन्त और विषाक्त धाराओं के बीच चक्कर खाती बड़ी दूर तक चली गई हैं और जिनमें अब तक न लोभ मनुष्य को ले गया है, न साहस का अभिमान। गुफा के भीतर बड़े बड़े दीवानखाने पड़े हैं। जिनके ऊपर फैली हुई छत हीरे और सोने से जड़ी है। स्फटिक के ऊँचे ऊँचे खम्भे खड़े हैं। बीच बीच में उज्ज्वल मुक्तामयी वेदियाँ दिखाई पड़ती हैं। पुष्पराग के सिंहासन इधर उधर पड़े झलकते हैं"।

कोह काफ़ (काकेशस) की ऐसी ऐसी दुर्गम घाटियों के भीतर घूमती फिरती उस कवि की छोटी सी नाव बहती जाती है जिसके दोनों ओर ऊपर तो गगनस्पर्शी शिखर और नीचे जल में घुसी बेडौल चट्टानों पर अपनी जड़ों का जाल फैलाए हुए वृक्षों की निविड़ और सघन राशि! प्रकृति के खंडों के ऐसे ऐसे संश्लिष्ट और शृंखलाबद्ध चित्रण उनके 'इसलाम का विप्लव' (The Revolt of Islam) आदि काव्यों में भरे पड़े हैं जैसे कहीं किसी रहस्यवादी कवि की रचना में नहीं मिल सकते। रहस्यवादी की काव्यदृष्टि एक बार में इतने विस्तार तक पहुँचती ही नहीं या पहुँचाई ही नहीं जाती।

शैली की पिछली रचनाओं में ही कहीं कहीं रहस्य-भावना का उन्मेष पाया जाता है। 'सौन्दर्य-बुद्धि की स्तुति' (Hymn to Intellectual Beauty) नाम की कविता में शैली ने उस नित्य गतिशील सौंदर्य-सत्ता का स्तवन किया है जो समय समय पर बाह्य प्रकृति को वसन्त-विकास के रूप में अपने नाना रंगों से जगमगाया करती है और मनुष्य के हृदय को प्रेम, आशा और गर्व से प्रफुल्ल किया करती है। कहने की जरूरत

नहीं कि यह भावना गत्यात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को ही लेकर चली है। स्त्रीत्व का आध्यात्मिक आदर्श व्यंजित करनेवाली 'एपिसिडियन' (Epipsychidion) नाम की कविता भी इसी ढंग की है। 'जिज्ञासा' का उल्लेख पहले हो चुका है। ऐसी ही कुछ थोड़ी सी छोटी छोटी कविताओं में रहस्य-भावना पाई जाती है; पर ऐसी नहीं जो रहस्यवादियों के काम की हो। मेरे ध्यान में तो शेली की एक ही ऐसी छोटी सी कविता आती है जिसमें रहस्यवादियों के काम की कुछ सामग्री है। वह है—'कवि-स्वप्न' (The Poet's Dream) जिसमें कवि के सम्बन्ध में कहा गया है कि—

"वह प्रभात से सायंकाल तक झील में झलमलाती धूप और इश्क़-पेचों के फूलों पर बैठी बैठी पीली मधु-मक्खियों को देखता रहेगा। इसकी परवा न करेगा कि इन वस्तुओं की सत्ता क्या है। वह इनके (इन रूपों के) द्वारा ऐसे रूप (कल्पना में) संघटित करेगा जो अमरत्व के अंगज होंगे और जिनकी सत्ता मनुष्य-सत्ता से भी वास्तविक होगी।"*

पर एक-आध जगह मिलनेवाली 'वाद' की ऐसी सामग्री शेली को रहस्यवादी कवियों में नहीं ढकेल सकती। शेली पर जो समीक्षा-पुस्तकें निकली हैं उनमें शेली रहस्यवादी कवि नहीं निरूपित हुए हैं।

इधर समय समय पर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में रहस्यवाद या छायावाद की जानकारी कराने के लिए जो लेख निकलने लगे हैं उनमें से किसी किसी में बेचारे कीट्स (Keats) तक का नाम घसीटा जाता

* He will watch from dawn to gloom
The lake reflected sun illume,
The yellow bees in the ivy-bloom.
Nor heed nor see what things they be;
But from these create he can,
Forms more real than living man
Nurslings of immortality.

है, जिनसे रहस्यवाद का नाममात्र का भी लगाव नहीं। अँगरेज़ी साहित्य का थोड़ा परिचय रखनेवाला भी जानता है कि कीट्स प्राचीन यूनानी काव्य का आदर्श लेकर नए ढंग (Romantic) पर चले हैं जिसमें रहस्यवाद की गन्ध तक नहीं। यह दिखाया जा चुका है कि रहस्यवाद की उत्पत्ति पैग़म्बरी (Semitic) मतों के भीतर हुई है। प्राचीन आर्य-काव्य में—क्या भारत के, क्या योरप के—रहस्यवाद का नाम तक नहीं, सीधा देववाद है। कीट्स की कल्पना बहुत ही तत्पर थी इससे उनमें मूर्त्त-विधान (Imagery) का विलक्षण प्राचुर्य है वे अपने इन्द्रियार्थवाद (Sensualism) के लिए प्रसिद्ध हैं; रहस्यवाद के साथ तो उनका नाम कहीं लिया ही नहीं जाता। कहीं ईट्स के धोखे में उनका नाम न आ जाता हो ?

एक दूसरी कोटि के कवि भी होते हैं जिन्हें कभी कभी भ्रान्तिवश कुछ लोग रहस्यवादी कह दिया करते हैं। अँगरेज़ी कवि ब्राउनिंग (R. Browning) इसी तरह के कवि थे। उनकी कविता में बुद्धि-व्यापार का बहुत योग है। विचारों की ऐसी सघनता बहुत कम कवियों में पाई जाती है। कहीं कहीं विचारों की गति इतनी क्षिप्र होती है कि पाठक साथ साथ नहीं चल पाता और उसे दुर्बोधता या अस्पष्टता का अनुभव होता है। कहीं कहीं इसी प्रकार की अस्पष्टता की प्रतीति के कारण स्थूल दृष्टि से देखनेवालों को रहस्यवाद का धोखा होता है। पर ब्राउनिंग की अस्पष्टता में और रहस्यवादी की बनावटी अस्पष्टता में कौड़ी-मुहर का फ़र्क़ है। दोनों की उत्पत्ति सर्वथा भिन्न कारणों से है। एक की अस्पष्टता विचार-शृंखला की सघनता और जटिलता के कारण होती है और दूसरे की विचार-शृंखला के सर्वथा अभाव के कारण। एक में बुद्धितत्त्व (Intellectuality) के साथ पूरा साहचर्य है और दूसरे में विच्छेद। दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं।

काव्यक्षेत्र में ब्राउनिंग का लक्ष्य बहुत ही उच्च था। उनका लक्ष्य था गूढ़ और ऊँचे विचारों के साथ हृदय के भावों का संयोग करना। जैसा हम पहले कह आए हैं अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धिव्यवसायात्मक या

विचारात्मक होकर अत्यन्त विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। कितने गहरे, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे किसी भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका विचार भी कवियों की उच्चता स्थिर करने में बराबर रखना पड़ेगा। ब्राउनिंग का आदर्श यही था! वे कविकर्म को बहुत गम्भीर समझते थे। मनबहलाव या कूतूहल की सामग्री नहीं। चित्रकला, मूर्त्तिकला आदि हलकी कलाओं के साथ कविता को बिल्कुल मिलाकर जो काव्य-समीक्षा योरप में चली उसने काव्य के लक्ष्य की धारणा बहुत हलकी और संकुचित कर दी।

सच्ची स्वाभाविक रहस्य-भावना वाले कवि और साम्प्रदायिक या सिद्धान्ती रहस्यवादी की पहचान के लिए काव्य-वस्तु (Matter) का भेद आरम्भ में ही हम दिखा आए हैं। विधान-विधि (Form) का भेद ऊपर सूचित किया गया। स्वाभाविक रहस्य-भावना-सम्पन्न कवि प्रकृति का कोई खंड लेकर वस्तु व्यापार की संश्लिष्ट और शृंखला-बद्ध योजना द्वारा पूर्ण दृश्य का विधान करते चलते हैं। उनकी रूप-योजना विस्तीर्ण और जटिल होती है तथा कुछ दूर तक अखंड चलती है, पर साम्प्रदायिक या सिद्धान्ती रहस्यवादी कुछ बँधी हुई और इनी-गिनी वस्तुओं की ठीक उसी प्रकार अलग अलग झलक दिखाकर रह जाते हैं जिस प्रकार हमारे पुराने शृंगारी कवि, ऋतुओं के वर्णन में, उद्दीपन-सामग्री दिखाया करते हैं। इसी लिए स्वाभाविक रहस्य-भावना वाले कवि चरित-काव्य या प्रबन्ध-काव्य का भी बराबर आश्रय लेते हैं; पर साम्प्रदायिक रहस्यवादी मुक्तकों या छोटे छोटे रचना-खंडों पर ही सन्तोष करते हैं। प्रथम कोटि के कवियों में दृश्य के संश्लिष्ट प्रसार के साथ साथ विचार और भाव बड़ी दूर तक मिली हुई एक अखंड धारा के रूप में चलते हैं। पर दूसरी कोटि के कवियों में यह अन्विति (Unity) और मनोहर प्रसार अत्यन्त अल्प या नहीं के बराबर होता है। अतः इस दूसरी कोटि में वर्डसवर्थ और शेली क्या कालरिज भी

नहीं आ सकते जिनकी रचनाओं में बहुत ही संश्लिष्ट और जटिल दृश्य-विधान प्रस्तुत रूप में—रहस्यवादियों के समान अप्रस्तुत रूप में नहीं—पूरी मूर्तिमत्ता के साथ दूर तक चलते पाए जाते हैं।

पाश्चात्य रहस्यवाद और पाश्चात्य स्वाभाविक रहस्य-भावना का थोड़ा विस्तृत उल्लेख इसलिए करना पड़ा कि आजकल विचारों की पराधीनता के कारण योरप ही 'जगत्' समझा और कहा जाता है। जो कुछ अब तक कहा गया उससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि योरप का सिद्धान्ती रहस्यवाद, जो ब्लेक और ईट्स आदि में पाया जाता है, वह अरब-फारस के सूफियों के यहाँ से गया है। उसके पहले यहूदियों और कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाइयों में जो रहस्य-भावना प्रचलित थी वह ईश्वरवाद (Theism) के भीतर थी। उसमें उस प्रेम-पूर्ण परम पिता के दया-दाक्षिण्य का आभास जगत् की नाना वस्तुओं और व्यापारों में रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था। सूफियों के रहस्यवाद में सर्ववाद (Pantheism) या अद्वैतवाद (Monism) के साथ प्रतिबिम्बवाद का योग था। वेदान्त में सर्ववाद और प्रतिबिम्बवाद एक ही नहीं है। सर्ववाद वेदान्त का पुराना रूप है। उसके उपरान्त विवर्त्तवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, अजातवाद आदि जो कई वाद, ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध-निरूपण में, चले उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद भी एक है।

सर्ववाद का अभिप्राय यह है कि व्यक्ताव्यक्त, मूर्त्तामूर्त्त, चिदचित् जो कुछ है सब ब्रह्म ही है। इस पुराने वाद के अनुसार जगत् जिस रूप में हमारे सामने है उसमें भी ब्रह्म ही का प्रसार है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जिस रूप में जगत हमारे सामने है उस रूप में ब्रह्म तो नहीं है, हाँ, उसकी छाया या प्रतिबिम्ब अवश्य है। सूफियों ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में तो अद्वैतवाद ग्रहण किया, पर जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिबिम्बवाद को अपनाया। इस प्रतिबिम्बवाद को लेकर सिद्धान्त-पक्ष में उन्होंने उस 'कल्पनावाद' की उद्भावना की जिसका वर्णन हम कर आए हैं और जिसे काव्य-पक्ष में लेकर ब्लेक आदि विलायती रहस्यवादियों ने साहित्य में एक विलक्षण आडम्बर

खड़ा किया। पर सूफियों ने अपने उस 'कल्पनावाद' को केवल ध्यान के लिए साधना या सिद्धान्त-पक्ष में ही रखा; काव्यक्षेत्र में नहीं घसीटा। काव्यक्षेत्र में उन्होंने प्रतिबिम्बवाद के साथ 'अभिव्यक्तिवाद' का मेल किया जिससे उनकी कविता का रंग वैसा ही स्वाभाविक और हृदय-ग्राही रहा जैसा और कविता का।

सूफी कवि इस बाहर फैले हुए परदे के बीच बीच में ही—छाया के बीच बीच में ही—अपने प्रियतम की झलक पाते रहे; अपने भीतर की उलटी-सीधी- अव्यवस्थित कल्पना में नहीं। बाहरी जगत् के जिस रूप में उन्हें उसके सौन्दर्य, हास, औदार्य, प्रेम, क्रीड़ा इत्यादि की छटा का आभास मिला उसे वे पीछे कल्पना में धारण करके भी रस-मग्न होते रहे। सारांश यह कि सबके सामने फैले हुए बाह्य जगत् के रूपों और व्यापारों में कुछ सच्चा आभास या संकेत पाकर, तब वे उसके अनु-रूप भावव्यंजना करते थे। इससे एक सामान्य भावभूमि पर प्राप्त होकर श्रोता या पाठक का हृदय भी उनके भाव को अपना लेता था। इसके विपरीत विलायती रहस्यवादी या उनके अनुयायी बाह्य जगत् की स्वच्छ और सच्ची अभिव्यक्ति से, जो मनुष्य मात्र के लिए कल्पना और भाव ग्रहण करने का सामान्य और अक्षय्य भांडार है, आँखें मूँदकर अपनी वात-पित्त-ग्रस्त कल्पना के कोने में इकट्ठे किए हुए रोड़े अकस्मात् लुढ़काकर भावों के उन्माद-भार से हलके होने का अभिनय किया करते हैं।

क्यों सूफी-भाव की कविता हृदय को विकसित करनेवाली होती है और विलायती रहस्यवाद की कविता का अनुकरण, या उसके अनु-करण का अनुकरण, हृदय की अनुभूति से दूर अपनी लपक-झपक दिखाया करती है, इसके एक बड़े भारी कारण का पता तो ऊपर लिखी बातों से लग जाता है। पर कुछ और कारण भी हैं। योरप के काव्य-समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित 'अभिव्यंजनावाद' (Expressionism) और 'कला का उद्देश्य कला ही है' का पूरा प्रभाव आधुनिक विला-यती रहस्यवाद पर है। प्रभाव है क्या, कहना चाहें तो कह सकते हैं

कि उक्त रहस्यवाद तीनों वादों के मेल से—क्रोचे द्वारा अङ्गीकृत 'कल्पनावाद' के साथ 'अभिव्यंजनावाद' और 'कला का उद्देश्य कला'-वाद के मेल से—संघटित है।

'कल्पनावाद' के अवलम्बन से उत्पन्न विषमता का उल्लेख तो हो चुका। रहा पिछले दो वादों से ग्रस्त विलायती रहस्यवाद के अनुकरण, या अनुकरण के अनुकरण, का फल, वह भी सुगमता से अनुमान में आ जाता है। 'अभिव्यंजनावाद' की प्रवृत्ति वाग्वैचित्र्य या शब्दभंगी की ओर अधिक है। वाग्वैचित्र्य का उचित स्थान काव्य में क्या है, यह हम पहले दिखा आए हैं। यहाँ हिन्दी में उसके अनुकरण में जो और विशेष विरूपता दिखाई पड़ती है उसी का यहाँ विचार करना है। योरपीय भाषाओं में वाग्वैचित्र्य का विधान अधिकतर उन भाषाओं की लाक्षणिक चपलता के बल पर होता है। प्रत्येक भाषा की लाक्षणिक प्रवृत्ति उसके बोलनेवालों की अन्तःप्रकृति और संस्कारों के अनुरूप हुआ करती है अतः एक भाषा के लाक्षणिक प्रयोग दूसरी भाषा में बहुत कम काम दे सकते हैं।

विलायती रहस्यवाद की कविताओं में बाहरी विशेषता जो दिखाई पड़ी, वह थी लाक्षणिक प्रगल्भता और वाग्वैचित्र्य। अतः उसका अनुकरण सबसे पहले और अधिक उतावली से हुआ ; इससे ठीक ढंग पर न चला। अधिकतर तो अनुकरण न होकर अवतरण हुआ जिससे वैचित्र्य की तत्काल सिद्धि दिखाई पड़ी। एक भाषा के पदविन्यास, लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरे इत्यादि यदि शब्द-प्रति-शब्द दूसरी भाषा में रख दिए जायँ तो यों ही एक तमाशा खड़ा हो जाता है। अँगरेजी के किसी एक साधारण पैराग्राफ का शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद करके सामने रखिए और उसकी विचित्रता देखिए। तुर्की या चीनी का ऐसा ही अवतरण सामने रखिए तो और बहार दिखाई दे। विलायती रहस्यवाद जब वंग-भाषा-साहित्य के एक कोने से होता हुआ हिन्दी में आ निकला तब उस पर दो भाषाओं के अजनबीपन की छाप दिखाई पड़ी। बहुत कुछ वैचित्र्य तो इस अजनबीपन में ही मिल गया। पर

यदि लाक्षणिक विधान अपनी भाषा की गति-विधि के अनुसार होता तो क्या अच्छी बात होती !

अभिव्यंजनावाद के प्रसंग में हम दिखा चुके हैं कि उसके अनुकूल विलायती रचना के अनुकरण को हद से बाहर घसीटने के कारण छायावाद समझकर लिखी जानेवाली कविताओं में अप्रस्तुत वस्तु-व्यापारों की बड़ी लंबी लड़ी के अतिरिक्त और कुछ सार नहीं होता। सब मिलाकर पढ़ने से न कोई सुसंगत और नूतन भावना मिलेगी, न कोई विचारधारा और न किसी उद्भावित सूक्ष्म तथ्य के साथ भावसंयोग, जिसका कुछ स्थायी संस्कार हृदय पर रहे। अप्रस्तुत-विधान, चाहे वे किसी रूप में रखे जायँ, वास्तव में अलंकार मात्र होंगे। अतः ऐसी कविताओं की परीक्षा करने पर उपमान-वाक्यों के ढेर के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता। किसी एक कविता के भीतर विचारों या भावनाओं का इधर-उधर भिन्न दिशाओं में प्रसार न होते चलने के कारण अप्रस्तुत वस्तुओं में भी पूरी विभिन्नता नहीं होती। एक प्रकार से ढेर भी समान रंग-ढंग की वस्तुओं का ही होता है। अतः एकान्विति (Unity) और सम्बन्ध (Coherence) की, सच पूछिए तो, जगह ही नहीं होती।

पर इन दोनों के बिना अच्छी से अच्छी सामग्री का बिखरा हुआ ढेर कला की कृति नहीं कहला सकता। सामग्री परस्पर जितनी ही भिन्न और अनेकांग-स्पर्शिणी होगी उतना ही उनका सामंजस्यपूर्वक अन्वय कला का उत्कृष्ट विधान कहा जायगा। 'छायावाद' का पास लेकर काव्यक्षेत्र में आनेवाली अधिकांश रचनाओं में कोई भावना उठकर कुछ दूर तक सांगोपांग चलती नहीं दिखाई पड़ती। यह वास्तव में उपर्युक्त अवतरण-व्यापार का ही परिणाम है। वैचित्र्य के लोभ में भिन्न भिन्न स्थलों से संगृहीत वाक्यों और पदविन्यासों को एक में समन्वित करना भी तो कठिन ही है।

किसी प्रकृत आलम्बन से सीधा लगाव न रखने के कारण भावों में जो सचाई का अभाव (Insincerity) या कृत्रिमता (Artificiality) रहती है वह तो मूल ही से आई है। यह बात मैं उन रचनाओं

के सम्बन्ध में कहता हूँ जो वास्तव में रहस्यवाद या छायावाद के अन्तर्गत होती हैं।

एक चौथी बात जिसकी चर्चा छायावाद की कविता के साथ हुआ करती है वह छन्द-बन्धन का त्याग और लय (Rythm) का अवलम्बन है। पर यह एक बिल्कुल दूसरी हवा है जो अमेरिका की ओर से आई है। इसका रहस्यवाद या छायावाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे एक आन्दोलन के रूप में खड़ा करनेवाला अमेरिका का वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) था जिसने सन् १८५५ ई० में 'घास के पत्ते' (Leaves of Grass) नाम की एक कविता केवल लय पर चलनेवाली बिना छन्द की पंक्तियों में निकाली। इसके पीछे इस तरह की और बहुत सी कविताएँ उसने लिखीं जिनमें समीक्षकों ने काव्यत्व, कलाविधान और साहित्यिक शिष्टता की बहुत कमी बताई। एक समीक्षक ने बहुत थोड़े में अपनी राय इस प्रकार दी—

"अनुभूतियों का गड़बड़झाला, भावों और विचारों का बिखरा हुआ ढेर, सामने रख दिया गया है—बिना तुक-तुकान्त के, जो कोई त्रुटि नहीं; बिना छन्द के, जो त्रुटि है।

"यह सूचित करना आवश्यक है कि उत्तम काव्य के सब लक्षणों की दृष्टि से उसका विधान दूषित है। जैसा कि किसी ने कहा है, यदि शेक्सपियर, कीट्स और गेटे (Goethe) कवि हैं तो ह्विटमैन कदापि नहीं।"*

*'A chaos of impressions, thought or feelings thrown together without rhyme, which matters little; without metre which matters more; and often without reason which matters much.

"It must be pointed out, however, that all the canons of good poetry condemn his methods. As some has said, if Shakespeare, Keats and Goethe were poets, Whitman is not".

—A. B. De Mille: Literature in the Century.
(The Nineteenth Century Series).

और विलायती हवाओं की तरह यह हवा भी बँगला से होती हुई हिन्दी में आई है और छायावाद के साथ उसकी विलक्षणता बढ़ाने के लिए जोड़ी गई है। पर यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि इसका रहस्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः इसके सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ अधिक नहीं कहा चाहते। छन्द और लय (Rythm) के विषय में विचार करते समय इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि कविता एक बहुत ही पूर्ण कला है। इस पूर्णता के लिए वह संगीत और चित्रकला दोनों की पद्धति या थोड़ा बहुत सहारा लेती है। दोनों की रमणीयता का योग उसकी रमणीयता के भीतर रहता है। जिस प्रकार रूप-विधान में वह चित्रविद्या का कुछ अनुसरण करती है, उसी प्रकार नाद-विधान में संगीत का। छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भीतर भिन्न भिन्न ढाँचों (Patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं।

छन्द द्वारा होता है कि इन ढाँचों की मिति और इनके योग की मिति दोनों श्रोता को ज्ञात हो जाती हैं जिससे वह भीतर ही भीतर पढ़नेवाले के साथ ही साथ उसकी नाद की गति में योग देता चलता है। गाना सुनने के शौक़ीन गवैये के मुँह से किसी पद के पूरे होते होते उसे किस प्रकार लोक लेते हैं, यह बराबर देखा जाता है। लय तथा लय के योग की मिति बिल्कुल अज्ञात रहते से यह बात नहीं हो सकती। जब तक कवि आप ही गाकर अपनी लय का ठीक ठीक पता न देगा तब तक पाठक अपने मन में उसका ठीक ठीक अनुसरण न कर सकेगा। अतः छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है। हाँ! नए नए छन्दों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।

प्रेष्य भाव या विचार-धारा की छोटाई-बड़ाई के हिसाब से छोटे-बड़े चरणों की पूर्वापर स्थिति होनी चाहिए, यह प्रायः कहा जाता है।

इस पर पहली बात तो यह पेश हो सकती है कि किसी भाव या विचार की पूर्णता का सम्बन्ध वाक्य से होता है और वाक्य के लिए आजकल की पद्य-पद्धति के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि वह चरण के अन्त ही में पूरा हो। वह बीच में भी पूरा हो सकता है। यह अवश्य है कि चरण के बीच में एक वाक्य का अंत और दूसरे का आरम्भ होने से कविता चुपचाप बाँचने के ही अधिक उपयुक्त होती है, लय के साथ ज़ोर से सुनाने के उपयुक्त नहीं होती। जिन्होंने अच्छी लय के साथ किसी सुकंठ के मुँह से कविता का पाठ सुना है वे जानते हैं कि किसी कविता का पूर्ण सौन्दर्य उसके ज़ोर से पढ़े जाने पर ही प्रकट होता है। छन्दों की चलती लय में कुछ विशेष माधुर्य होता है। हमें तो यह माधुर्य उस्तादों के पक्के गाने से, जिसके 'आ आ आ' के आगे बड़े बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता और बड़े बड़े आलसियों का आसन डिग जाता है, कहीं अधिक आनन्दमग्न करता है। प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि ईट्स (W. B. Yeats) ने भी अपनी ऐसी ही रुचि प्रकट की है—

"पक्के गाने में कुछ ऐसी बात होती है जो मुझे सब दिन से बुरी लगती आई है। इसी तरह कोई कविता काग़ज़ पर छपी हुई मुझे अच्छी नहीं लगती। अब इसका कारण खुला। मैंने एक व्यक्ति को ऐसी सुन्दर लय और भाव के पूरे अनुसरण के साथ कविता पढ़ते सुना है कि यदि मेरे कहने के अनुसार कुछ लोग कविता पढ़ने की कला सीख लेते तो मैं कोई कविता की पुस्तक बाँचने के लिए कभी खोलता ही न"।*

---

* I have always known that there wass omething I disliked about singing, and I naturally dislike print and paper, but now atl ast I understand why, for I have found something better. I have just heard a poem spoken with so delicate a sence of its rythm

जिन्होंने स्वर्गीय श्रीसत्यनारायण कविरत्न को कभी 'या लकुटी अरु कामरिया' पढ़ते सुना है वे यह अवश्य समझ गए होंगे कि किसी कविता का पूर्ण सौन्दर्य उसके सुन्दर लय के साथ पढ़े जाने पर ही प्रकट होता है। हाँ, ऊपर छोटे-बड़े चरणों की बात चली थी। छोटे-बड़े चरणों की यदि योजना करनी हो तो भिन्न भिन्न छन्दों के दो दो चरण रखते हुए बराबर चले चलने में हम कोई हर्ज नहीं समझते। यह हमारा प्रस्ताव मात्र है।

लय भी तो एक प्रकार का बन्धेज ही है। जब तक नाद-सौन्दर्य का कुछ भी योग कविता में हम स्वीकार करेंगे तब तक बन्धेज कुछ न कुछ रहेगा ही। नाद-सौन्दर्य की जितनी मात्रा आवश्यक समझी जायगी उसी के हिसाब से यह प्रतिबन्ध रहेगा। इस बात का अनुभव तो बहुत से लोगों ने किया होगा कि संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, मालिनी शिखरणी, इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा इत्यादि वर्ण-वृत्तों में नाद-सौन्दर्य की पराकाष्ठा है पर उनका बन्धन बहुत कड़ा होता है। अतः भावधारा या विचारधारा पूरी स्वच्छन्दता के साथ कुछ दूर तक उनमें नहीं चल सकती। इसी से हिन्दी में मात्रिक छन्दों का ही अधिक प्रचार रहा है। वर्ण-वृत्तों में सवैये इस लिए ग्रहण किए गए कि उनमें लय के हिसाब से गुरु-लघु का बन्धन बहुत कुछ शिथिल हो जाता है।

जो कविता में उतने ही नाद-सौन्दर्य की जरूरत समझते हैं जितना केवल लय (Rythm) के द्वारा सिद्ध हो जाता है उनसे हमें कुछ कहना नहीं है। हम अधिक की जरूरत समझते हैं और शायद बहुत से लोग ऐसा ही समझते हों। रही यह बात कि छन्द के बन्धन से विचार के पैर बँध जाते हैं और कल्पना के पर सिमट जाते हैं। इसकी जाँच

---

with so perfect a respect for its meaning, that if I were wise man and could persuade a few people to learn the art, I could never open a book of verses again. —Ideas of Good and Evil.

के लिए कवियों की रचना का इतना बड़ा मैदान खुला हुआ है। हिन्दुस्तानी कवियों की बात छोड़िए—क्योंकि विलायत की अंधाधुंध नक़ल से घबराकर ही यह सारा निबन्ध लिखा गया है—अँगरेज़ी के कवियों को लीजिए। क्या वर्ड्सवर्थ और शेली की ऊँची से ऊँची कविताएँ छन्द और तुक से बँधी नहीं हैं? क्या औरों की ऊँची से ऊँची छन्दोमुक्त कविता उनके टक्कर में रखी जा सकती है?

अब तक जो कुछ लिखा गया उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीज़ों का मुरब्बा है। जैसा हम पहले दिखा आए हैं 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' काव्य-वस्तु (Matter) से सम्बन्ध रखता है और 'अभिव्यंजनावाद' का सम्बन्ध विधान-विधि (Form) से होता है। 'अभिव्यंजनावाद' के साथ संयुक्त होकर बँगला से हिन्दी में आने के कारण साधारणतः 'छायावाद' के स्वरूप की ठीक भावना बहुत से रचयिताओं को भी नहीं होती। वे केवल ऊपरी रूप-रंग (From) का अनुकरण करके समझते हैं कि हम 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' की कविता लिख रहे हैं। पर वास्तव में उनकी रचना में केवल 'अभिव्यंजनावाद' का अनुसरण रहता है। 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत उन्हीं रचनाओं को समझना चाहिए जिनकी काव्यवस्तु 'रहस्यवाद' के अनुसार हो। रहस्यवादी काव्य-वस्तु की पहचान हम पहले बता आए हैं।

यहाँ पर यह सूचित कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि छायावाद के अन्तर्गत बहुत सी रचनाएँ ऐसी भी हुई हैं जिनमें 'अभिव्यंजनावाद' के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुन्दर लाक्षणिक चमत्कार स्थान स्थान पर मिलता है। भावना का बहुत ही साहसपूर्ण संचालन, मूर्तिमत्ता का बहुत ही आकर्षक विधान और व्यंजना की पूरी प्रगल्भता पाई जाती है। ऐसी रचना करनेवाले कवियों से आगे चलकर बहुत कुछ आशा है। अपनी इस आशा की सफलता के लिए हम अत्यन्त प्रेमपूर्वक उनसे दो-तीन बातों का अनुरोध करते हैं। पहली बात तो यह कि वे 'वाद' का साम्प्रदायिक पथ छोड़कर, अपनी सब विशेषताओं के

सहित, प्रकृत काव्यभूमि पर आएँ जिस पर संसार के बड़े बड़े कवि रहे हैं और हैं। दूसरी बात यह कि अनुकरण के लिए वे बँगला, अँगरेजी आदि दूसरी भाषाओं की ओर ताकना बिल्कुल छोड़ दें और अपनी भाषा की स्वाभाविक शक्ति से पूरा काम लें। तीसरी बात है लाक्षणिक प्रयोगों में सावधानी। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जिस भाव से कोई शब्द लाया गया है उसके साथ वह ठीक ठीक बैठता है या नहीं।

इसी 'छायावाद' के भीतर कुछ लोगों की कविताएँ ऐसी भी मिलती हैं जिनका स्वरूप विलायती नहीं होता, जो कुछ थोड़ा सा बँगलापन लिए हुए सूफ़ियों के तर्ज पर होती हैं। इनमें लाक्षणिकता भी पूरी रहती है, पर वह अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार होती है, अँगरेज़ी से उठाई हुई नहीं होती। ऐसी कविता लिखनेवाले वे ही हैं जो हिन्दी-काव्य-परम्परा से पूर्णतया परिचित हैं, जिन्हें अपनी भाषा पर पूरा अधिकार है और जो हिन्दी में 'छायावाद' प्रकट होने के पहले से अच्छी कविता करते थे। इनकी 'छायावाद' की रचनाओं में भी भावुकता और रमणीयता रहती है। थोड़ा खटकनेवाली बात जो मिलती है वह है फ़ारसी शायरी के ढंग पर वेदना की अरुचिकर और अत्युक्त विवृति। शरीर-धर्मों का अधिक विन्यास (Animality) काव्य-शिष्टता के विरुद्ध पड़ता है, यह शायद हम पहले कहीं कह आए हैं*। जो हो, कोरे विलायती तमाशे से हम इसे सौ दर्जे अच्छा समझते हैं। यद्यपि रहस्य की ओर भारतीय काव्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं, पर हिन्दी-काव्यक्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा बहुत दिनों पहले से बड़े हृदयग्राही रूप में हो चुकी है। इसके प्रवर्त्तक यद्यपि मुसलमान थे, पर वे सूफ़ी 'रहस्यवाद' को भारतीय रूप देने में पूर्णतया सफल हुए थे। कबीर आदि निर्गुन-पंथियों और जायसी आदि सूफ़ी प्रेम-मार्गियों ने 'रहस्य-वाद' की जो व्यंजना की है वह भारतीय भाव-भंगी और शब्द-भंगी को लेकर।

* [देखिए पीछे पृष्ठ १०१।]

अँगरेजी लाक्षणिक वाक्यों के अवतरण द्वारा विलायती तमाशा खड़ा करनेवालों का आदि रूप बीस-बाईस वर्ष पीछे मुझे आज स्मरण आ रहा है। उस समय हिन्दी के प्रेम में बहुत से छात्र मेरे तथा मेरे साहित्य-प्रेमी मित्रों के पास भी कविता सीखने की उत्कंठा प्रकट करते हुए, अँगरेजी की स्कूली किताबों में आई हुई कविताओं का प्रायः पद्यबद्ध शब्दानुवाद लेकर दिखाने आया करते थे। मैं उनसे बराबर यही कहता था कि "कविता के अभ्यास का यह मार्ग नहीं है। पहले खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों की कविताएँ पढ़कर अपनी काव्य-भाषा की प्रकृति से पूर्णतया परिचित हो जाओ और इस प्रकार क्रमशः अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त करो। इसके पीछे रचना में हाथ लगाओ। अँगरेजी कविताओं के अनुवाद से हिन्दी कविता करना नहीं आ सकता। अँगरेजी कविता करना क्या कोई हिन्दी कविताओं का अनुवाद करके सीख सकता है?" ऐसे छात्रों को मैं बराबर उनके अनुवाद सहित लौटा दिया करता था। पर कुछ दिनों पीछे उन पद्यानुवादों में से कई एक मासिक पत्रिकाओं में छपे दिखाई पड़ते थे। जब यह प्रवृत्ति कुछ बढ़ती दिखाई पड़ने लगी तब मेरे मन में यह बात आई थी कि इसका परिणाम आगे चलकर अच्छा न होगा। आज वही परिणाम 'गद्यमय जीवन' (Prosaic life), सुवर्ण स्वप्न' (Golden dream), 'स्वप्न अनिल' (Dreamy atmosphere), 'स्वप्निल आभा' (Dreamy splendour) आदि के रूप में झलक रहा है।

अतः हिंदी-काव्यक्षेत्र में यदि 'रहस्यवाद' के लिए कुछ अधिक स्थान करना है तो स्वाभाविक रहस्य-भावना का—उसके वादग्रस्त या साम्प्रदायिक रूप का नहीं—अवलम्बन करना चाहिए और उसकी व्यंजना के लिए अपनी भाषा की—विदेशी भाषा की नहीं—सब शक्तियाँ लगानी चाहिए। भद्दे अनुकरण के अभ्यास का अनिष्ट प्रभाव कई तरफ पड़ता है। यहाँ पर हमसे बिना यह कहे आगे नहीं बढ़ा जाता है कि 'छायावाद' की कविताओं की अपेक्षा हमें तो रहस्यभावना पूर्ण जो दो-एक गद्यकाव्य निकले हैं वे अधिक भावुकतापूर्ण और रमणीय जान पड़ते

हैं, विशेषत: राय कृष्णदासजी की 'साधना'। इसमें न तो साम्प्रदायिक 'रहस्यवाद' के शाबर मंत्र हैं, न अभिव्यंजनावाद' का अभिनय और न शब्दों की विलायती कलाबाज़ी। इसका हृदय भी भारतीय है, वाणी भी भारतीय है और दृष्टि भी भारतीय है। जिन अनुभूतियों की व्यंजना है वे कहीं भीतर से आती हुई जान पड़ती हैं; आसमान से उतारी जाती हुई नहीं। पदविन्यास में जो सरलता और प्रांजलता है वह भी हमारी है। जिन मधुर 'प्रतीकों' का व्यवहार हुआ है वे भी हमारे हृदय के सगे हैं।

अब तो कदाचित् इस बात के विशेष विवरण की आवश्यकता न होगी कि जो 'छायावाद' नाम प्रचलित है वह वेदान्त के पुराने 'प्रतिबिंबवाद' का है। यह 'प्रतिबिम्बवाद' सूफ़ियों के यहाँ से होता हुआ योरप में गया जहाँ कुछ दिनों पीछे 'प्रतीकवाद' से संश्लिष्ट होकर धीरे धीरे बंगसाहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा। यह काव्यगत 'रहस्यवाद' के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक शब्द है। इसके इतिहास की ओर ध्यान न देने के कारण अनेक प्रकार की मनमानी व्याख्याएँ हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में समय समय पर निकला करती हैं, जिनमें कहीं 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' का कल्पित भेद समझाया जाता है; कहीं 'छायावाद' ही के अर्थ में एक और 'बिम्बवाद' खड़ा करके दोनों का 'वस्तुवाद' (?) के साथ विरोध कुछ शब्दाडम्बर के साथ दिखाया जाता है। ऐसे लोगों को शब्दों का प्रयोग करते समय शास्त्र-पक्ष का कुछ पता रखना या कम से कम लगा लेना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि 'बिम्ब' 'छाया' का बिल्कुल उलटा है और उसी अर्थ में आता है जिस अर्थ में उन्होंने 'वस्तु' शब्द का प्रयोग किया है। जो मूल वस्तु प्रतिबिम्ब या छाया फेंकती है शास्त्रीय भाषा में वही बिंब कहलाती है। जिस Realism [रियलिज़्म] शब्द के लिए उन्होंने 'वस्तुवाद' शब्द बनाया है वह दार्शनिक भाषा में 'बाह्यार्थवाद' कहलाता है।

यहाँ पर हम यह बहुत स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में हम 'रहस्यवाद' की भी एक शाखा चलने के विरोधी कभी नहीं हैं। हमारा कहना केवल यही है कि वह वाद के रूप में न चले; स्वाभाविक रहस्यभावना का आश्रय लेकर चले। छायावाद का रूप-रंग बनाकर आजकल जो बहुत सी कविताएँ निकली हैं उनमें कुछ तो बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और सच्ची रहस्यभावना लेकर चली हैं; कुछ वादग्रस्त और कृत्रिम हैं और अधिकांश कुछ भी नहीं हैं। शुद्ध काव्यदृष्टि का प्रचार हो जाने पर पूर्ण आशा है कि कूड़े-करकट के ढेर में से सच्ची स्वाभाविक रहस्यभावना अपना मार्ग अवश्य निकाल लेगी और हिन्दी-काव्यक्षेत्र को यह शाखा भी अपनी एक स्वतन्त्र भारतीय विभूति का प्रकाश करेगी। अनुकरण-युग का अन्त होगा, इसका हमें पक्का भरोसा है।

'अभिव्यंजनावाद' किस प्रकार व्यंजन-प्रणाली की वक्रता और विलक्षणता पर ही जोर देता है, यह हम देख चुके। यह हमारे यहाँ का पुराना 'वक्रोक्तिवाद' ही है, यह भी हम निरूपित कर आए। उसके कारण शब्दाडम्बर की कितनी अधिकता हुई है, यह बात भी हम देख रहे हैं। यह कई बार हम सूचित कर चुके हैं कि योरप के समीक्षा-क्षेत्र में जितने 'वाद' निकलते हैं सब एकांगदर्शी होते हैं; किसी एक ही दिशा में आँख मूँदकर हद के बाहर बढ़ते चले जाते हैं। उनमें सामंजस्य-बुद्धि का अभाव होता है। अतः इस 'अभिव्यंजनावाद' से हम केवल इतना ही तथ्य ग्रहण कर सकते हैं कि हमारी काव्यभाषा में व्यंजना-प्रणाली के और अधिक प्रसार और चित्ताकर्षक विकास की बहुत आवश्यकता है।

हमारी पुरानी कविता में व्यंजना-प्रणाली के प्रसार और चमत्कार के लिए अलंकारों का ही विधान अधिकतर होता था। पर अलंकारों के अधिक प्रयोग से कविता कितनी भाराक्रान्त और कहीं कहीं कितनी भद्दी हो जाती है इसके उदाहरण केशवदासजी की रचनाओं में बिना ढूँढ़े मिलेंगे। अलंकार बहुत जगह लेते हैं और बहुत दूर तक भावना को

एक ढाँचे के भीतर बंद किए रहते हैं। अतः उनका संयत प्रयोग वहीं होना चाहिए जहाँ विचार या भावना के पूर्ण प्रसार या भाव की यथेष्ट व्यंजना के लिए व्यास-विधान अपेक्षित हो। अब इस समय हिंदी-काव्यभाषा में मूर्त्तिमत्ता की समास-शक्ति का, लक्षणा-शक्ति का, अधिक विकास अपेक्षित है। काव्य में अधिकतर सादृश्य या साधर्म्यमूलक अलंकारों का व्यवहार होता है। पर बहुत से स्थलों पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के बँधे हुए लम्बे-चौड़े ढाँचों की अपेक्षा लक्षणा से बहुत अधिक रमणीयता और वाग्वैचित्र्य का संपादन हो सकता है। लाक्षणिकता के सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भावक्षेत्र और विचारक्षेत्र दोनों में बहुत दूर तक, बहुत ऊँचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक सकती है। छायावाद समझकर लिखी हुई कविताओं में से बहुतों में, अनुकरण-वश सही, लाक्षणिकता की ओर अधिक प्रवृत्ति देख बड़ी प्रसन्नता होती है।

लाक्षणिकता के अधिक विधान की आवश्यकता किसी शाखा-विशेष के भीतर ही नहीं, समूचे हिन्दी-काव्यक्षेत्र के भीतर है। पर यह विधान खूब समझ-बूझकर होना चाहिए। न तो अपनी भाषा की प्रकृति की इतनी अवहेलना होनी चाहिए कि अँगरेजी के लाक्षणिक प्रयोग शब्द-प्रति-शब्द रख लिए जायँ और न उर्दूवालों की तरह मुहावरे से फिसलने का इतना डर छाया रहना चाहिए कि बिल्कुल उड़ने से कुछ पहले की अवस्था सूचित करने के लिए 'खबर फड़फड़ा रही है' लिखते हाथ रुक जाय। सामंजस्य-बुद्धि से काम लेते हुए अग्रसर होना होगा। मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग ही हैं, पर बँधे हुए। उनसे किसी भाषा की लाक्षणिक प्रवृत्ति के स्वरूप का पता चलता है। अतः उनका सूत्र पकड़े हुए लक्षणा इधर-उधर अच्छी तरह बढ़ सकती है। उदाहरण के लिए 'लालसा जगना' लीजिए। इसके इशारे पर 'लालसा सोती है' हम बेधड़क कह सकते हैं। पर बहुत आगे बढ़कर 'लालसा का आँख मलना, करवट बदलना या अँगड़ाइयाँ लेना' 'मुँह का कमल को लात मारना' हो जायगा। लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता गुड़ियों का खेल न

होने पाए। हमारा मतलब यह नहीं कि मुहावरों के रास्ते के भीतर ही लक्षणा अपने हाथ-पैर फैलाए। तात्पर्य इतना ही है कि अपनी भाषा की प्रकृति परखकर और सुरुचि का ध्यान रखकर चला जाय।

'छायावाद' या 'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में जान-बूझकर अज्ञानवश तरह तरह की भ्रान्ति हिन्दी-पाठकों के बीच फैलाने की जो चेष्टा की जाती है, वह असभ्यता-सूचक है। यह कहना कि 'रहस्यवाद' ही वर्त्तमान युग की कविता है और योरप में चारों ओर यही कविता हो रही है या तो घोर अज्ञान है या छल। ब्लेक आदि के पीछे सन् १८८५ में जो प्रतीकवाद-मिश्रित नूतन रहस्यवाद फ्रांसीसी साहित्यक्षेत्र के एक कोने में प्रकट हुआ—जिसकी नक़ल बँगला से होती हुई हिन्दी में आई—वह किस प्रकार एक साम्प्रदायिक वस्तु है और योरप के अधिकांश साहित्यिकों द्वारा किस दृष्टि से देखा जाता है, यह हम अच्छी तरह दिखा चुके हैं। दूसरी बात लीजिए। हम नहीं समझते कि बिना हिन्दीवालों की खोपड़ी को एकदम खोखली माने उनके बीच इस प्रकार के अर्थशून्य वाक्य 'छायावाद' के सम्बन्ध में कैसे कहे जाते हैं कि "यह नवीन जागृति का चिह्न है; देश के नवयुवकों के हृदय की दहकती हुई आग है इत्यादि, इत्यादि"। भला देश की नई 'जागृति' से, देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूति से और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झाँकी आदि का क्या सम्बन्ध? क्या हिन्दी के वर्त्तमान साहित्य-क्षेत्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया है? क्या शब्दों की गर्द-भरी आँधी विलायत के कलाक्षेत्र से धीरे धीरे हटती हुई अब हिन्दीवालों का आँख खोलना मुश्किल करेगी? यदि ऐसा नहीं है तो मासिक पत्रिकाओं में कभी कभी योरप की काव्य समीक्षा की पुस्तकों की केवल आलंकारिक पदावली बिना किसी विचार-सूत्र के काव्य या कला की आलोचना के नाम से कैसे निकला करती है? किसी अँगरेज़ी या बँगला के कवि के सम्बन्ध में लिखी हुई लच्छेदार उक्तियाँ किसी नए या पुराने हिन्दी-कवि के सम्बन्ध में नई आलोचना के रूप में कैसे भिड़ा दी जाती हैं? ऐसी कार्रवाइयाँ

हिन्दी-साहित्य के स्वतन्त्र विकास में बाधक हो रही हैं। हिन्दी-पाठकों को इस प्रकार अन्धा मान लेना हम बड़े अपमान की बात समझते हैं।

यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हमारे काव्य का, हमारे साहित्य-शास्त्र का, एक स्वतन्त्र रूप है जिसके विकास की क्षमता और प्रणाली भी स्वतन्त्र है। उसकी आत्मा को, उसकी छिपी हुई भीतरी प्रकृति को, पहले जब हम सूक्ष्मता से पहचान लेंगे तभी दूसरे देशों के साहित्य के स्वतन्त्र पर्यालोचन द्वारा अपने साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का विधान कर सकेंगे। हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा; दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। जब तक हम इस विचार-सामर्थ्य का संपादन न कर लेंगे तब तक अफ्रिका के जंगलियों की तरह—जो अँगरेजों के उतारे कपड़े बदन पर डालकर स्ववर्गियों के बीच बड़ी ऐंठ से चला करते हैं—भद्दी नक़ल को ही नवीनता मानकर संतोष करते रहेंगे और सभ्य-जगत् के उपहास-भाजन बने रहेंगे। हमारी आँख अपना स्वरूप तक न देख सकेगी, विदेशी दर्पण की आवश्यकता होगी। विदेशी लोग जैसा हमें बतावेंगे वैसा ही अपने को मानकर हम उसके प्रमाण उनके सामने रखा करेंगे। योरप ने कहा "भारतवासी बड़े आध्यात्मिक होते हैं, उन्हें भौतिक सुख-समृद्धि की परवा नहीं होती"। बस, दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता। देखिए, हमारे काव्य में भी आध्यात्मिकता है; यह देखिए हमारी चित्रविद्या की आध्यात्मिकता, यह देखिए हमारी मूर्त्तिकला की आध्यात्मिका।

जितनी बातें आजकल काव्यक्षेत्र में 'नवीनता' कहकर पेश की जाती हैं, एक एक करके सबका मूल हम योरप के नए-पुराने प्रचलित प्रवादों में दिखा चुके हैं। सब नक़ल की नक़ल है। इस नक़ल की प्रवृत्ति बंगाल में ही सबसे अधिक रही। वहीं के साहित्य में एक एक बात की नक़ल शुरू हुई। नक़ल से किसी जाति के साहित्य का असली गौरव नहीं हो सकता। इससे उसकी अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपनी उद्भावना का अभाव ही व्यंजित होता है। जिसकी नक़ल

की जाती है वह और भी उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। बंग-भाषा के साहित्य में योरपीय साहित्य की प्रवृत्तियों की यह भद्दी नक़ल देख सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपनी 'भाषाओं की जाँच' में स्पष्ट विरक्ति प्रकट की है। एक जगह की प्रचलित और सामान्य वस्तुओं को दूसरी जगह विकृत रूप में रखकर नवीनता की विज्ञप्ति करना किसी सभ्य जाति को शोभा नहीं देता। यह नवीनता नहीं है—अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रान्त हृदय का घोर नैराश्य है, कहाँ तक कहें! घोर साहित्यिक गुलामी है। जब तक इस गुलामी से छुटकारा न होगा तब तक नवीनता के दर्शन कहाँ? नक़ल के भीतर की नवीनता भी नक़ल ही के पेट में समा जाती है।

दुनिया जानती है कि जब से फ़ारसी और संस्कृत के काव्यों के अनुवाद योरप के भिन्न भिन्न देशों में होने लगे तभी से पूरबी रंग (Orientalism) की बहुत कुछ झलक वहाँ की कविताओं में दिखाई पड़ने लगी। पर इस बाहरी रंग को उन्होंने अपने रंग में ऐसा मिला लिया कि इसकी पृथक् सत्ता कहीं से लक्षित नहीं होती। उनके अपने विचारों का ऐसा स्वतन्त्र और सघन प्रसार था कि बाहर से आते हुए विचार उसी में समाते गए। उनकी अपनी विचारधारा इतनी सबल थी कि बाहर से आकर मिले हुए सोते अपनी उछल-कूद अलग न दिखाकर, उसी के वेग को बढ़ाते रहे। इसका नाम है स्वतन्त्र 'प्रगति' और स्वतन्त्र 'विकास'।

अन्त में हम इतना और कहकर अलग होते हैं कि हम सारा काव्यक्षेत्र देव, मतिराम और बिहारी आदि के घेरे के भीतर देखनेवाले पुरानी लकीर के फ़कीर न कभी रहे हैं और न हैं। हम अपने हिन्दी-काव्य को विश्व की नित्य और अनन्त विभूति में स्वच्छंदतापूर्वक, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार, अपनी आँख खोलकर, विचरण करते देखना चाहते हैं। पर यह दिन तभी आ सकता है जब हमारी अन्तर्दृष्टि को आच्छन्न करनेवाले परदे हटेंगे और हमारे विचारों में

बल आएगा। इसके पहले हम बाहर के नाना वादों और प्रवादों की ओर आँखें मूँदकर लपका करेंगे। अपने विचार के परीक्षालय में उनकी पूरी जाँच न करके उनके अनुकरण में ही अपने को धन्य माना करेंगे।

इस परीक्षालय की नूतन प्रतिष्ठा के लिए हमें अपनी रसनिरूपण-पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से खूब प्रसार संस्कार करना पड़ेगा। इस पद्धति की नीवँ बहुत दूर तक डाली गई है; पर इसके ढाँचों का नए नए अनुभवों के अनुसार, अनेक दिशाओं में फैलाव बहुत जरूरी है। योरप के साहित्यिक वादों और प्रवादों के सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि वे प्रतिवर्त्तन (Reaction) की झोंक में उठते हैं और किसी ओर हद के बाहर बढ़ते चले जाते हैं। उनमें सत्य की मात्रा कुछ न कुछ रहती अवश्य है; पर किसी हद तक ही। हमें देखना चारों ओर चाहिए; पर सब देखी हुई बातों का सामंजस्य-बुद्धि से समन्वय करना चाहिए। जैसा हम आरम्भ ही में कह चुके हैं, यही सामंजस्य भारतीय काव्य-दृष्टि की विशेषता है। यही सामंजस्य अनेक रूपात्मक जीवन और अनेक भावात्मक काव्य की सफलता का मूलमन्त्र है।

काव्य में अभिव्यंजनावाद

(माननीय विद्वज्जन !

आज मेरे ऐसे अयोग्य और अकर्मण्य व्यक्ति को इस आसन पर पहुँचाकर आप महानुभावों ने केवल अपने अमोघ कृपाबल का परिचय दिया है, यह कहना तो कदाचित् बहुत दिनों से चली आती हुई एक रूढ़ि या परम्परा का पालन मात्र समझा जायगा। पर इसका प्रमाण आपको अभी थोड़ी देर में मिल जायगा। ऐसी जगमगाती विद्वन्मंडली के बीच मेरा कर्त्तव्य केवल अपने दोनों कान खुले रखने का था, न कि मुँह खोलने का। पर आप लोग शायद इस कार्यभार से थककर कुछ विनोद की सामग्री चाहते थे। मूर्ख हास्यरस के प्राचीन आलम्बन हैं। न जाने कब से वे इस संसार की रुखाई के बीच लोगों को खुल-कर हँसने का अवसर देते चले आ रहे हैं। यदि मुझसे इतना भी हो सके तो मैं अपना परम सौभाग्य समझूँगा।

सम्मेलन ने जब से अपने अधिवेशन के साथ वाङ्मय के कुछ विभागों की अलग अलग बैठकों की व्यवस्था की तभी से यह समझा जाने लगा है कि वह प्रचार-कार्य के साथ साथ प्रत्येक विभाग की स्थिति की निरन्तर समीक्षा का विधान भी करना चाहता है। वाङ्मय के भिन्न भिन्न क्षेत्र किस दशा में हैं इसकी सम्यक् विवृति प्रत्येक क्षेत्र के कार्यकर्ताओं द्वारा मिलकर विचार करने से ही हो सकती है। आज जिस विभाग की विचार-सभा में सम्मिलित होने का अधिकार आप महानुभावों ने मुझे दिया है वह है साहित्य-विभाग। अतः इस बात का ध्यान मुझे बराबर रखना पड़ेगा कि जो कुछ मैं कहूँ वह उस विभाग के भीतर की बात हो। कहीं उसके बाहर न जा पड़ूँ इस डर से कुछ हदबंदी मैं कर लेना चाहता हूँ; यह स्थिर कर लेना चाहता हूँ कि शुद्ध साहित्य के भीतर क्या क्या आता है।*)

* [चौबीसवें हिन्दी-साहित्य-संमेलन, इन्दौर की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से किया हुआ भाषण।]

साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय को विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो। भावोन्मेष से मेरा अभिप्राय हृदय की किसी प्रकार की प्रवृत्ति से—रति, करुणा, क्रोध इत्यादि से लेकर रुचि अरुचि तक से है और चमत्कार से अभिप्राय उक्ति-वैचित्र्य के कुतूहल से है। अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम अभी छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से निःसंग विशुद्ध रूप में अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है, कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं। यह अवश्य है कि अनुमित और आप्तोपलब्ध अर्थ के साथ काव्यभूमि में कल्पित अर्थ का योग थोड़ा रहता है, जैसे दार्शनिक कविताओं में, रामायण, पद्मावत आदि ऐतिहासिक काव्यों में। गम्भीर-भाव-प्रेरित काव्यों में कल्पना प्रत्यक्ष और अनुमान के दिखाए मार्ग पर काम करती है और बहुत घना और बारीक काम करती है। कहने का तात्पर्य यह कि साहित्य के भीतर पहले तो वे सब कृतियाँ आती हैं जिनमें भाव-व्यंजक या चमत्कार-विधायक अंश पर्याप्त होता है, फिर उन कृतियों की रमणीयता और मूल्य हृदयंगम करानेवाली समीक्षाएँ या व्याख्याएँ। अर्थबोध करना मात्र, किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिस कथन या प्रबन्ध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न आएगा, और चाहे जहाँ जाय।

इस दृष्टि से साहित्य-क्षेत्र के भीतर आनेवाली रचनाओं के तीन रूप तो हमारे यहाँ पहले से मिलते हैं—श्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य और कथात्मक गद्यकाव्य। इनमें से पहले दो तो अब तक ज्यों के त्यों बने हैं। कथात्मक गद्यकाव्य का स्थान अब उपन्यासों और छोटी कहानियों ने लिया है। चौथा रूप है काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध या लेख। पाँचवाँ है वह विचारात्मक निबन्ध या लेख जिसमें भावव्यंजना और भाषा का वैचित्र्य या चमत्कार

भी हो अथवा जिसमें पूर्वोक्त चारों प्रकार की कृतियों की मार्मिक समीक्षा या व्याख्या हो। काव्यसमीक्षा के अतिरिक्त और प्रकार के विचारात्मक निबन्ध साहित्य- कोटि में वे ही आते हैं जिनमें बुद्धि के अनुसन्धान-क्रम या विचार-परम्परा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक का व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी पूरी झलकती हैं। इस प्रकार मेरे विचार के विषय ठहरते हैं—काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य और निबन्ध, जिसमें साहित्यालोचन भी सम्मिलित है। (इन्हीं के संबंध में मैं अपनी कुछ भली या बुरी धारणाएँ क्रम से आप लोगों के सम्मुख प्रकट करूँगा, इस आशा से कि उनका बहुत कुछ संशोधन और परिष्कार इस विद्वन्मंडली के बीच हो जायगा। पहले मैं प्रत्येक का स्वरूप समझने का प्रयास करूँ गा, फिर अपने साहित्य में उसके विकास पर कुछ निवेदन करूँगा—'प्रकाश डालना' तो मुझे आता नहीं।)

उपर्युक्त पाँचों प्रकार की रचनाओं में भाव या चमत्कार के परिमाण में ही नहीं, उसकी शासन-विधि में भी भेद होता है। कहीं तो वह शासन इतना सर्वग्रासी और कठोर होता है कि भाव या चमत्कार के इशारे पर ही भाषा अनेक प्रकार के रूप-रंग बनाकर नाचती दिखाई पड़ती है; अपना खास काम लुक-छिप कर करती है। कहीं इतना कोमल होता है कि वह अपना पहला काम खुलकर करती हुई भाव का कार्यसाधन करती है और अच्छी तरह करती है। भाषा का असल काम यह है कि प्रयुक्त शब्दों के अर्थयोग द्वारा ही—या तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही—पूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों में से किसी एक का बोध कराए। जहाँ इस रूप में कार्य न करके वह ऐसे अर्थों का बोध कराती है जो बाधित, असंभव, असंयत या असंबद्ध होते हैं वहाँ वह केवल भाव या चमत्कार का साधन मात्र होती है, उसका वस्तु-ज्ञापन-कार्य एक प्रकार से कुछ नहीं होता। ऐसे अर्थों का मूल्य इस दृष्टि से नहीं आँका जाता कि वे कहाँ तक वास्तविक, संभव या अव्याहत हैं बल्कि इस दृष्टि से आँका जाता है कि वे किसी भावना को कितने तीव्र और बढ़े-चढ़े रूप में व्यंजित करते हैं अथवा उक्ति में कितना वैचित्र्य या चमत्कार लाकर अनुरंजन करते हैं।

ऐसे अर्थविधान की संभावना काव्य में सबसे अधिक होती है। पर यह न समझना चाहिए कि काव्य में अर्थ सदा इसी संक्रमित, अधीन दशा में ही पाया जाता है। बहुत सी अत्यन्त मार्मिक और भावपूर्ण कविताएँ ऐसी होती हैं जिनमें भाषा कोई वेशभूषा या रूप-रंग नहीं बनाती ; अर्थ अपने खुले रूप में ही पूरा रसात्मक प्रभाव डालते हैं।

काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भाव-व्यंजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है। उसमें भाषा अपनी अर्थक्रिया अधिकतर सीधे ढंग से करती है, केवल बीच बीच में ही भाव या चमत्कार उसे दबाकर अपना काम लेते हैं। बात यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं। पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिए अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायगी और सारा नाटकत्व निकल जायगा। यह ठीक है कि पश्चिम में कुछ कवियों ने (नाटककारों ने नहीं) केवल कल्पना की उड़ान दिखानेवाले नाटक लिखे हैं, पर वे शुद्ध नाटक की कोटि में नहीं लिए जाते। यही बात मन की भावनाओं या विकारों को मूर्त्त रूप में—पात्रों के रूप में खड़े करनेवाले नाटकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

आख्यायिका या उपन्यास के कथाप्रवाह और कथोपकथन में अर्थ अपने प्रकृत रूप में और भी अधिक विद्यमान रहता है और उसे दबानेवाले भाव-विधान या उक्ति-वैचित्र्य के लिए और थोड़ा स्थान बचता है। उपन्यास में मन बहुत कुछ घटना-चक्र में लगा रहता है। पाठक का मर्मस्पर्श बहुत कुछ घटनाएँ ही करती हैं ; पात्रों द्वारा भावों की लंबी चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।

काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध या लेख छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही है, अतः रचना-भेद से उनमें भी अर्थ का उन्हीं रूपों में ग्रहण होता है जिन रूपों में छन्दोबद्ध काव्य में होता है अर्थात कहीं तो वह अपने प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा संक्रमित रहता है।

उपर्युक्त चारों प्रकार की रचनाओं में कल्पना-प्रसूत 'वस्तु' या अर्थ

की प्रधानता रहती है, शेष तीन प्रकार के अर्थ सहायक के रूप में रहते हैं। पर निबन्ध में विचार-प्रसूत अर्थ अंगी होता है और आप्तोपलब्ध या कल्पित अर्थ अंग रूप में रहता है। दूसरी बात यह है कि प्रकृत निबन्ध अर्थप्रधान होता है। व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य अर्थोपहित होता है, अर्थ के साथ मिला-जुला होता है और हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ बीच बीच में अर्थ के साथ झलक मारती हैं।

साहित्य के अन्तर्गत आनेवाली पाँचों प्रकार की रचनाओं का आभास देकर अब मैं सबसे पहले काव्य को लेता हूँ जिसकी परंपरा सभ्य, असभ्य सब जातियों में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। लोक में जैसे और सब विषयों का प्रकाश मनुष्य की वाणी या भाषा द्वारा होता है वैसे ही काव्य का प्रकाश भी। भाषा का पहला काम है शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराना। यह काम वह सर्वत्र करती है—इतिहास में, दर्शन में, विज्ञान में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई-झगड़े में और काव्य में भी। भावोन्मेष, चमत्कारपूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ वह करती है उसमें अर्थ का योग अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में यह 'योग्यता', उपपन्नता या प्रकरण-संबद्धता नहीं दिखाई पड़ती वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और 'योग्य' अथवा 'प्रकरण-संबद्ध' अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या संबद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती तो वह काव्य या कथन प्रलाप-मात्र मान लिया जाता है। यदि किसी लड़की को दिखाकर कोई किसी से कहे कि "तुमने इस लड़की को काटकर कूएँ में डाल दिया" तो सुननेवालों के मन में इस वाक्य का अर्थ सीधे न धँसेगा, वह एकदम असंभव या अनुपयुक्त जान पड़ेगा। फिर चट लक्षणा के सहारे वे इस अबाधित या समझ में आनेवाले अर्थ तक पहुँच जायँगे कि "तुमने इस लड़की को बुरे घर में व्याह कर अत्यन्त कष्ट में डाल दिया।" इसी प्रकार गरमी से व्याकुल लोगों में से कोई बोल उठे कि "एक पत्ती भी नहीं हिल रही है" तो

शेष लोगों को शायद पहले यह कथन नितान्त अप्रासंगिक जान पड़े, पर पीछे वे व्यंजना के सहारे कहनेवाले के इस सुसंगत अर्थ तक पहुँच जायँगे कि "हवा बिल्कुल नहीं चल रही है।" इससे यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी 'योग्यता' या 'उपयुक्तता' को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ, अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।

व्यंजना के सम्बन्ध में कुछ विचार करने की आवश्यकता है। व्यंजना दो प्रकार की मानी गई है—वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना। किसी तथ्य या वृत्त की व्यंजना वस्तु-व्यंजना कहलाती है और किसी भाव की व्यंजना भाव-व्यंजना (भाव की व्यंजना ही जब रस के सब अवयवों के सहित होती है तब रस-व्यंजना कहलाती है)। यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ ठहरती हैं। वस्तु-व्यंजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है, पर भाव-व्यंजना जिस रूप में मानी गई है उस रूप में किसी भाव का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं। पर साहित्य के ग्रन्थों में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, दूसरी में यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि "अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है।" पर केवल इस बात का ज्ञान करना कि "अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है" स्वयं क्रोध या रति भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है। रस-व्यंजना इस रूप में मानी भी

नहीं गई है। अतः भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना वस्तु-व्यंजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।

रस-व्यंजना की इसी भिन्नता या विशिष्टता के बल पर 'व्यक्ति-विवेक'कार महिम भट्ट का सामना किया गया था जिनका कहना था कि 'व्यंजना' अनुमान से भिन्न कोई वस्तु नहीं। विचार करने पर वस्तु-व्यंजना के सम्बन्ध में भट्टजी का पक्ष ठीक ठहरता है। व्यंग्य वस्तु या तथ्य तक हम वास्तव में अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं। पर रस-व्यंजना लेकर जहाँ वे चले हैं वहाँ उनके मार्ग में बाधा पड़ी है। अनुमान द्वारा बेधड़क इस प्रकार के ज्ञान तक पहुँचकर कि "अमुक के मन में प्रेम है या क्रोध है" उन्हें फिर इस ज्ञान को 'आस्वाद-पदवी' तक पहुँचाना पड़ा है। इस 'आस्वाद-पदवी' तक रत्यादि का ज्ञान किस प्रक्रिया से पहुँचता है, यह सवाल ज्यों का त्यों रह जाता है। अतः इस विषय को स्पष्ट कर लेना चाहिए। या तो हम भाव या रस के सम्बम्ध में 'व्यंजना' शब्द का प्रयोग न करें, अथवा वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध में। शब्द-शक्ति का विषय बड़े महत्त्व का है। वर्त्तमान साहित्य-सेवियों को इसके सम्बन्ध में विचार-परम्परा जारी रखनी चाहिए। काव्य की मीमांसा या स्वच्छ समीक्षा के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

आजकल के प्रसिद्ध अँगरेज समालोचक रिचर्डस् (I. A. Richards) जो योरपीय साहित्य में समीक्षा के नाम पर फैलाए हुए बहुत से अर्थशून्य वाग्जाल को हटाकर शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा का रास्ता निकाल रहे हैं, हमारे यहाँ के शब्द-शक्ति-निरूपण के ढर्रे पर अर्थ-मीमांसा को लेकर चले हैं। उन्होंने 'व्यावहारिक काव्यसमीक्षा' (Practical Criticism) नामक अपने बड़े ग्रन्थ में चार प्रकार के अर्थ माने हैं—(१) प्रस्तुत अर्थ या व्यंग्य वस्तु (Sense), (२) व्यंग्य भाव (Feeling), (३) बोधव्य की विशेषता (Tone) और भीतरी उद्देश्य (Intention)। जिन्होंने अपने यहाँ के शब्द-शक्ति-निरूपण का अच्छी तरह मनन किया है वे देख सकते हैं कि इन चारों में वास्तव में

दो ही मुख्य हैं। तीसरे का समावेश हमारे यहाँ आर्थी व्यंजना के कारणों के अन्तर्गत हो जाता है—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसन्निधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च॥

चौथे का समावेश अभिधामूलक ध्वन्यार्थ के अन्तर्गत हो जाता है जिसका एक उदाहरण यह है—"हे धार्मिक! बेधड़क फिरिए। उस कुत्ते को, जो आपको सताता था, गोदावरी-तट के उस कुंज में रहनेवाले सिंह ने मार डाला।" इसमें कहनेवाली नायिका का भीतरी उद्देश्य यह है कि भगतजी उस एकान्त कुंज के पास फूल आदि तोड़ने न जाया करें, पर वह और ही ढंग से कहती हैं कि 'बेधड़क फिरिए'। हमारे यहाँ शब्द-शक्तियों के भेद-निरूपण का जैसा स्वच्छ मार्ग है वैसा यदि रिचर्डस् को मिलता तो उन्हें उक्त पिछले दो प्रकार के अलग अर्थ न रखने पड़ते।

उक्त चार प्रकार के अर्थों का उल्लेख करके रिचर्डस् ने कहा है कि उक्ति में कभी किसी अर्थ की प्रधानता रहती है, कभी किसी अर्थ की। काव्य में अधिकतर व्यंग्य भाव की प्रधानता रहती है। पर वे कहते हैं कि इसका यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में प्रस्तुत अर्थ या तथ्य ध्यान देने की वस्तु नहीं। कभी कभी सीधी-सादी प्रस्तुत वस्तु या अर्थ ही से भाव की व्यंजना हो जाती है। कभी वाच्यार्थ से व्यंजित वस्तु निकालनी पड़ती है। क्या यह कहने की आवश्यकता है कि काव्य-मीमांसा की यह वही पद्धति है जो हमारे यहाँ स्वीकृत है।

आजकल पाश्चात्य वाद-वृत्तों के बहुत-से पत्ते—कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाए हुए—यहाँ पारिजात-पत्र की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं, जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्ते हैं। पर यह बात हो नहीं रही है। योरप के समीक्षा-क्षेत्र में नवीनता और अनूठेपन की झोंक में काव्य के सम्बन्ध में न जाने कितनी अत्युक्त बातें चला

करती हैं—जैसे "कला कला ही के लिए है," "अभिव्यंजना ही सब कुछ है, अभिव्यंग्य कोई वस्तु नहीं," "काव्य में अर्थ ध्यान देने की कोई वस्तु नहीं," "काव्य में बुद्धि घातक होती है" इत्यादि इत्यादि। "कला कला ही के लिए" का शोर योरप में तो बन्द हुआ, पर यहाँ उसकी गूँज अब तक सुनाई दिया करती है। और सब बातें अभी छोड़कर यहाँ हम प्रसंग-वश 'बुद्धि' और 'अर्थ' वाली बात लेते हैं।

ऊपर शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में हम जो कुछ कह आए हैं उससे इस बात का आभास मिलता है कि भारतीय दृष्टि के अनुसार 'अर्थ' काव्य में क्या काम करता है और 'बुद्धि' का काव्य में क्या स्थान है। 'अर्थ' से अभिप्राय योग्य और उपपन्न अर्थ से है, यह दिखाया जा चुका है। वाच्यार्थ के अयोग्य या अनुपपन्न होने पर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किस में रहती है? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो, अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। मेरा यह कथन विरोधाभास का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है। कोई रसात्मक या चमत्कार-विधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति ही में, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में, काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नहीं। जैसे, यह लक्षणायुक्त वाक्य लीजिए—

जीकर, हाय ! पतंग मरे क्या ?

इसमें भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि "जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे ?" तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा। अब 'साकेत' में उर्मिला की यह रसात्मक उक्ति लीजिए—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ ?
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।

जिसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत और बुद्धि को सर्वथा अग्राह्य है उर्मिला जब आप मिट ही जायगी तब अपने प्रिय लक्ष्मण को वन से लाएगी क्या? पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है; इस योग्य और बुद्धि-ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि "उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है"। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं। हिन्दी के पुराने कवि देव ने शायद यही समझकर काव्य में केवल वाच्यार्थ माना था।* तो फिर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रयोजन क्या है? वाच्यार्थ बाधित, व्याहत या अनुपपन्न होने पर लक्षणा और व्यंजना के सहारे योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है? इस प्रयास का अभिप्राय यही है कि काव्य की उक्ति चाहे कितनी ही अतिरंजित, दूरारूढ़ और उड़ानवाली हो—उसका वाच्यार्थ चाहे कितना ही प्रकरणच्युत, व्याहत और असम्भव हो—उसकी तह में छिपा हुआ कुछ न कुछ योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ होना चाहिए। योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने के लिए चाहे कितनी ही मिट्टी—मिट्टी मैं तार्किकों की बुद्धि से कहा गया, रसज्ञों और सहृदयों की दृष्टि से सोना या रत्न कहना चाहिए—खोदकर हटानी पड़े, उसे प्राप्त करना चाहिए। अब पूछिए कि जो योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ खोदकर निकाला जाता है उसका काव्य में प्रयोजन क्या है, वह किस काम आता है। काव्य तो वह है नहीं; काव्य तो है अयोग्य, अनुपपन्न, बुद्धि को अग्राह्य उक्ति। सुनिए, वह काव्य नहीं, "काव्य को धारण करनेवाला सत्य है जिसकी देखरेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है।" व्यंजना करनेवाली उक्ति की साधुता और सचाई की परख के लिए उसको सामने रखने की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षकों और आलोचकों को पड़ती है।

* ['अभिधा' उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना लीन।
अधम व्यंजना रस बिरस, उलटी कहत नवीन॥]

वे उस सत्य के साथ किसी उक्ति का सम्बन्ध देखकर यह निर्णय करते हैं कि उस उक्ति का स्वरूप ठीक-ठिकाने का है या ऊटपटाँग। इस प्रकार यहाँ के साहित्य-मीमांसकों की दृष्टि में काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए—योग्यता चाहे खुली हो या छिपी हो; अत्यन्त अयोग्य और असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी कभी काव्य के प्रयोजन भर को योग्यता छिपी रहती है—जैसे, शोकोन्मत्त या वियोगविक्षिप्त के प्रलाप में शोक की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही 'योग्यता' है।

काव्य के साथ अर्थ की योग्यता अर्थात् बुद्धि का कितना और किधर से लगाव होता है, इस विषय में हमारे यहाँ का यही विवेचन समझना चाहिए। ऊपर काव्य और कला के सम्बन्ध में समय समय पर फैशन की तरह चलनेवाले नाना वादों, प्रवादों और अपवादों की चर्चा की जा चुकी है, जिनके बहुत-से वाक्यखंड हमारे वर्त्तमान साहित्य के क्षेत्र में भी मन्त्रों की तरह जपे जाने लगे हैं। इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान देना सबसे पहले आवश्यक है। योरप में कला और काव्यसमीक्षा के बड़े बड़े सम्प्रदाय इटली और फ्रांस से चलते रहे हैं। इटली बहुत दिनों से चित्रकारी, मूर्त्तिकारी, नक्काशी, बेलबूटों की इमारती सजावट आदि के लिए प्रसिद्ध चला आ रहा है। इन्हीं कलाओं के बीच काव्य की भी गिनती की गई। फल यह हुआ कि काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी नक्काशी और बेलबूटों की सी भावना जड़ पकड़ती गई। काव्य का प्रभाव भी उसी प्रकार का समझा जाने लगा जिस प्रकार का बेलबूटों की सजावट और नक्काशी का पड़ता है। इससे अधिक गम्भीर श्रेणी का प्रभाव ढूँढ़ने की आवश्यकता धीरे धीरे दूर सी होने लगी। बेलबूटों की सजावट और नक्काशी में जिस ढंग से अनुरंजन करनेवाला सौन्दर्य-विधान होता है उसी ढंग से अनुरंजन करनेवाला सौन्दर्य-विधान काव्य में भी समझा जाने लगा। अतः जिस प्रकार बेलबूटे और नक्काशी का सम्बन्ध जगत् या जीवन की किसी वास्तविक दशा, स्थिति या तथ्य से नहीं होता, उसी प्रकार काव्य का भी नहीं होता। शिल्पकार या कलाकार के मन में सौन्दर्य की भावनाएँ जिन रूप-रेखाओं या आकारों में प्रस्फुटित होती हैं

उन्हीं रूपों और आकारों को वह बेलबूटों और नक्काशियों में अभिव्यंजित कर देता है। वे बेलबूटे कल्पना की स्वतन्त्र सृष्टि होते हैं—सृष्टि के किसी खंड के ठीक ठीक अनुकरण नहीं। जीवन के किसी वास्तविक तथ्य, भाव (मनोविकार) या विचार के रूप में उनका अर्थ ढूँढ़ना व्यर्थ है। अपने अर्थ वे आप ही हैं। यही बात काव्य के सम्बन्ध में भी समझी जाने लगी।

मेरे देखने में "कला कला ही के लिए है," "कला कल्पना की नूतन सृष्टि में है, प्रकृति के ज्यों के त्यों चित्रण में नहीं," "काव्य कल्पना का लोक है"—ये सब उक्त बेलबूटेवाली हलकी धारणा के कच्चे-बच्चे हैं।

इस धारणा को बहुत दूर तक घसीटकर इसे शास्त्रीय रूप देने का सबसे प्रकांड प्रयास इटली के क्रोचे (Croce) ने अपने 'सौन्दर्य-शास्त्र' में किया जिसका प्रभाव केवल काव्य-चर्चा में ही नहीं काव्यरचना में भी बहुत कुछ दिखाई पड़ता है। उसने अभिव्यंजनावाद (Expessionism) का प्रवर्त्तन किया जिसके अनुसार कला में अभिव्यंजना ही सब कुछ है—अभिव्यंजना से अलग कोई और अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता। काव्य की गिनती भी कलाओं में ही की गई है। अतः काव्य में उक्ति से अलग कोई दूसरा अर्थ—दूसरी वस्तु तथ्य, या भाव—नहीं होता। काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति की प्रतिनिधि नहीं। जो अर्थ किसी उक्ति के शब्दों से निकलता है उसका सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ से नहीं होता। साहित्य की परिभाषा में इसे यों कह सकते हैं कि काव्य में वाच्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ नहीं होता।

अब यह देखिए कि उक्त 'वाद' के भीतर प्रकृति की नाना वस्तुओं, दृश्यों और व्यापारों तथा हृदय के रति, क्रोध, शोक इत्यादि अनेक भावों का क्या स्थान ठहरता है। वे केवल उपादान मात्र रह जाते हैं। कुछ फूल-पत्तियों इत्यादि के रंग और आकार लेकर जिस प्रकार मनमाने बेलबूटे और नक्काशियाँ बनाई जाती हैं उसी प्रकार काव्य में भी बाह्य प्रकृति से फूल पत्तों, नदी-नालों, पर्वत-समुद्र, बुलबुल, कोकिल, चातक, भ्रमर, चाँदनी, समीर इत्यादि ; मनुष्य के व्यापारों से रोना,

गाना, हँसना, कूदना इत्यादि ; शरीर से मुख, कान, नाक, अश्रु, श्वास, उच्छ्वास इत्यादि ; मनुष्यों की अन्तःप्रकृति से रति, हास, शोक, भय इत्यादि लेकर और उनका मनमाना योग करके एक अनूठी सृष्टि, प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र एक नई रचना, खड़ी की जाती है। इन अनेक पदार्थों का वर्णन या इन अनेक भावों की व्यञ्जना, काव्य का लक्ष्य नहीं होता। ये तो उपादान मात्र हैं—खिलौने बनानेवाले कुम्हार की मिट्टी और रंग हैं। अतः प्रस्तुत-अप्रस्तुत का, अलंकार-अलंकार्य का कोई सवाल नहीं।

यहाँ से अब स्पष्ट देखा जा सकता है कि उपर्युक्त वाद बेलबूटों और नक्काशियों के सम्बन्ध में तो बिल्कुल ठीक घटता है, पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से बहुत दूर रहता है। उसे दृष्टि में रखकर जो चलेगा उसके निकट काव्य का सहृदयता, भावुकता और मार्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं। उक्त वाद के प्रभाव से प्रस्तुत की हुई रचनाओं को देखकर कोई पूछ सकता है कि क्या कवि के लिए अनुभूति सचमुच आवश्यक है। यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथ्य, सच्ची भावानुभूति, नहीं तो उसका मूल्य मनोरंजन करनेवाली सजावट या खेल-तमाशे के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं। पर उक्त वाद के प्रतिपादक ने उसका मूल्य दूसरी दुनिया में ढूँढ़ निकालने की चेष्टा की है। उसने कला की अभिव्यंजना के इस व्यवसाय को बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है, उसकी अपनी निज की क्रिया कहा है—इस जगत् और जीवन से स्वतन्त्र। यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि क्रोचे को यह आत्मावाली बात मिली कहाँ से। यह पुराने ईसाई भक्त सन्तों से मिली है जिन्हें दिव्य आभास हुआ करता था और जिसका उल्लेख आगे होगा। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में मैं दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार ईसा की १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में घोर रहस्यवादी अँगरेज कवि ब्लेक ने सन्तों के आभास वाली बात पकड़कर मनुष्य की कल्पना को इलहाम के दर्जे को पहुँचाया था।* उसने कहा था—

* [देखिए पीछे पृष्ठ ११५-११६ ।]

"कल्पना का लोक नित्य लोक है। वह शाश्वत और अनन्त है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ हैं जिन्हें हम प्रकृतिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित देखते हैं।"

परीक्षा के लिए क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का संक्षेप में परिचय दे देना, मैं समझता हूँ, अच्छा होगा। मैं कई जगह दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार योरप के समीक्षा-क्षेत्र में, इधर बहुत दिनों से काव्य के, कल्पना और भाव इन दोनों अवयवों में से केवल 'कल्पना' 'कल्पना' की ही पुकार सुनाई पड़ती है। कल्पना है काव्य का क्रियात्मक बोध-पक्ष जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही काव्य के अन्तर्भूत माना है। अलंकारवादी या वक्रोक्तिवादी अलबत्त ज्ञानात्मक अवयव ही से प्रयोजन रखते हैं। जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है क्रोचे काव्य में कल्पना की क्रिया और उसके बोध ही को सब कुछ मानता है अतः कलानुभूति या काव्यानुभूति को वह ज्ञान-स्वरूप ही मानकर चला है। उसका सिद्धान्त संक्षेप में हम नीचे देते हैं उसने कला-सम्बन्धी ज्ञान को तर्क-सम्बन्धी ज्ञान से इस प्रकार अलग किया है—

(१) कला-सम्बन्धी ज्ञान है—स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition), कल्पना में उद्भूत ज्ञान, व्यक्ति का संकेतग्रह अर्थात् किसी एक विशेष वस्तु का ज्ञान।

(२) तर्क-सम्बन्धी ज्ञान है—प्रभा (Concept) निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान, भिन्न भिन्न व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान अर्थात् जाति का संकेतग्रह।

स्वयंप्रकाश ज्ञान का अभिप्राय है मन में आप से आप—बिना बुद्धि की क्रिया या सोच-विचार के—उठी हुई मूर्त्त भावना, जिसकी वास्तविकता-अवास्तविकता का कोई सवाल नहीं। यह मूर्त्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है जो दृश्य जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को (अर्थात् मन में संचित उनकी छाया और संस्कारों को) द्रव्य या उपादान की तरह लेकर हुआ करती है। दृश्य जगत् के नाना रूप-व्यापार हैं द्रव्य (Matter)। इसी द्रव्य के सहारे आत्मा की क्रिया मूर्त्त रूप में अपना प्रकाश करती है। 'द्रव्य' की प्रतीति मात्र तो जड़त्व या निष्क्रियता है—ऐसी प्रतीति है जो विवश होकर करनी ही

पड़ती है। मनुष्य की आत्मा द्रव्य की प्रतीति मात्र करती है, उसकी सृष्टि नहीं करती। आत्मा की अपनी स्वतन्त्र क्रिया है कल्पना, जो रूपका सूक्ष्म साँचा खड़ा करती है और उस साँचे में स्थूल द्रव्य को ढालकर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। वह 'साँचा', आत्मा की कृति या आध्यात्मिक वस्तु होने के कारण, परमार्थतः एकरस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यंजना में जो नानात्व दिखाई पड़ता है वह स्थूल 'द्रव्य' के कारण जो परिवर्तनशील होता है। कला के क्षेत्र में यही 'साँचा' (Form) सब कुछ है, द्रव्य या सामग्री (Matter) ध्यान देने की वस्तु नहीं।*

स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) का 'साँचे' में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है, और कल्पना ही मूल अभिव्यंजना (Expression) है जो भीतर होती है और शब्द, रंग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। यदि सचमुच स्वयंप्रकाश ज्ञान हुआ है, भीतर अभिव्यंजना हुई है, तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकती है। लोगों का यह कहना कि कवि के हृदय में बहुत सी भावनाएँ उठती हैं, जिन्हें वह अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर सकता, क्रोचे नहीं मानता। वह कहता है कि जो भावना या कल्पना बाहर व्यक्त नहीं हो सकती उसे अच्छी तरह उठी हुई ही न समझना चाहिए। प्रत्येक अभिव्यंजना (Expression) या उसके बाहरी रूप उक्ति की अपनी अलग विशेष सत्ता होती है। अनेक अभिव्यंजनाओं या उक्तियों के बीच कुछ सामान्य लक्षण ढूँढ़कर काव्य के सम्बन्ध में कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है।†

अतः साहित्य-शास्त्र में रचनाओं के जो अनेक भेद किए गए हैं, कला की दृष्टि से, वे निरर्थक हैं—जैसे, अनेक प्रकार के अलंकार तथा वास्तविक (Realistic) और प्रतीकात्मक (Symbolic), बाह्यार्थ-निरूपक (Objective) और अन्तर्वृत्ति-निरूपक (Subjective), रूढ़िबद्ध और स्वच्छन्द, अलंकृत-अनलंकृत इत्यादि भेद।

* An aesthetis fact is form and nothing else.

† आगे चलकर क्रोचे को कुछ अभिव्यञ्जनाओं में सजातीय साम्य (Family Likenesses) स्वीकार करना पड़ा है। सजातीय, विजातीय भेद मान लेना वर्गीकरण की सम्भावना स्वीकार करना ही है।

अलंकार के सम्बन्ध में क्रोचे कहता है कि अलंकार तो शोभा के लिए ऊपर से जोड़ी या पहनाई हुई वस्तु को कहते हैं। अभिव्यंजना या उक्ति में अलंकार जुड़ कैसे सकता है? यदि कहिए बाहर से, तो उसे उक्ति से सदा अलग रहना चाहिए। यदि कहिए भीतर से, तो वह या तो उक्ति के लिए 'दाल-भात में मूसरचन्द' होगा अथवा उसका एक अंग ही होगा।

रस, अलंकार आदि के नाना भेद क्रोचे के अनुसार, कला की सिद्धि में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। इन सबका मूल्य केवल 'वैज्ञानिक समीक्षा' में है, कला-निरूपिणी समीक्षा में नहीं। कलासम्बन्धी भास उस प्रकार का अनुभव भी नहीं जिस प्रकार का सुख-दुःख का अनुभव होता है। यदि वह आनन्दानुभव माना जाय तो गुलाबजामुन खाने और इत्र सूँघने के आनन्द के समान ही ठहरता है और एक तरह का भोगविलास ही है। हाँ, यह अवश्य है कि जैसे और प्रकार के आध्यात्मिक भासों के साथ आनन्दानुभूति लगी रहती है वैसे ही कला-सम्बन्धी भास के साथ भी। पर इस आनुषंगिक वस्तु को मूल वस्तु से अलग समझना चाहिए। आगे चलकर क्रोचे उस रसवाद का भी खंडन करता है जिसमें रति, क्रोध, शोक आदि भिन्न भिन्न भावों की रसरूप से अनुभूति ही काव्यानुभूति मानी गई है। वह कहता है कि रसवादी रसानुभूति की वास्तविक अनुभूति से इसी बात में विशेषता बतलाते हैं कि वह निःस्वार्थ और निर्लिप्त होती है। पर यह भेद व्यर्थ है। इस भेद के सहारे लोगों ने कला-समीक्षा के क्षेत्र में किसी जमाने में प्रचलित 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' (The True, the Good and the Beautiful)—इन भिन्न भिन्न क्षेत्रों के शब्दों के बीच सामंजस्य-स्थापना का प्रकांड प्रयत्न किया, पर इसका जमाना लद गया।*

---

* पर यहाँ अभी तक चल रहा है। योरपीय समीक्षा-क्षेत्र की इस पदावली को हिन्दुस्तान में सबसे पहले दाख़िल करनेवाले ब्रह्म-समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। उसके पीछे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसकी खूब उद्धरणी की और यह बँगला के साहित्य-क्षेत्र में तब से बराबर चलती आ रही है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' अँगरेजी के The True, the Good and the Beautiful [दी ट्रू; दी गुड एंड दी ब्यूटीफुल] का अनुवाद है यह मैं 'काव्य में रहस्य-

अनुभूति (feeling) तो क्रोचे के अनुसार शरीर के योग-क्षेम से सम्बन्ध रखनेवाली भीतरी क्रिया है ; अतः उसके सुखदायक-दुःखदायक, उपयोगी-अनुपयोगी, लाभकारी हानिकारी दो पक्ष अवश्य ही होंगे । यदि कला में सुखात्मक भाव (जैसे, रति, हास) का मूल्य होता है तो इसका मतलब यह है कि दुःखात्मक भाव (जैसे, शोक, जुगुप्सा) का कोई मूल्य नहीं । पर काव्य में दोनों प्रकार के भाव बराबर देखे जाते हैं। कला या काव्य का मूल्य तो 'सुन्दर' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे, योगक्षेम-सम्बन्धी (Economic) मूल्य 'उपयोगी' या 'कल्याणकारी' या 'शुभ' (शिवम्) शब्द द्वारा, बुद्धिसम्बन्धी मूल्य 'सत्य' शब्द द्वारा, धर्म-सम्बन्धी मूल्य 'उचित' शब्द द्वारा । पर कला के क्षेत्र में 'सुन्दर' शब्द को भी क्रोचे एक विशेष अर्थ में स्वीकार करता है। सौन्दर्य से उसका तात्पर्य केवल अभिव्यंजना के सौन्दर्य से, उक्ति के सौन्दर्य से है किसी प्रस्तुत वस्तु के सौन्दर्य से नहीं । किसी वास्तविक या प्रस्तुत वस्तु में सौन्दर्य कहाँ ? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कहीं कोई सौन्दर्य नहीं मानते । जो कुछ सौन्दर्य होता है वह केवल अभिव्यंजना में, उक्ति-स्वरूप में । यदि सुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही, असुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही । इस मौके पर अपने पुराने कवि केशवदासजी याद आ गए, जो कह गए हैं कि—"देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चंद, तातें मुख मुखै सखी, कमलौ न चद री ।" केशवदास जी को भी कमल,चन्द्र इत्यादि देखने में कुछ

वाद' नाम की पुस्तक में दिखा चुका हूँ । [देखिए पीछे पृष्ठ १२५] आजकल हिन्दी में भी यह पदावली, शायद उपनिषद्वाक्य समझी जाकर, बहुत उद्धृत की जाती है, यद्यपि योरप से इसका फ़ैशन उठे बहुत दिन हुए । प्रसिद्ध आधुनिक समालोचक रिचर्ड्स ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

Thus arises the phantom problem of the aesthetic mode or aesthetic state—a legacy from the days of abstract investigation into the Good, the Beautiful and the True.

—Principles of Criticism.

भी अच्छे या सुन्दर नहीं लगते थे। हाँ, जब वे उपमा-उत्प्रेक्षापूर्ण किसी काव्योक्ति में समन्वित होकर आते थे तब वे सुन्दर दिखाई पड़ने लगते थे!

फिर लोग क्यों नाहक 'प्रकृति की सुषमा, शोभा, छटा, सुन्दरता' इत्यादि कहा करते हैं? क्रोचे कहता है कि बात यह है कि काव्य की उक्तियों के निर्माण में प्रकृति के क्षेत्र से बहुत सी सामग्री न जाने कितने दिनों से लोग लेते चले आ रहे हैं। इससे उन वस्तुओं की असंख्य उक्तियों में सुन्दर देखते देखते उनके सम्बन्ध में सुन्दरता की भावना बँध गई है और हम उन्हें वास्तविक या प्रत्यक्ष रूप में भी सुन्दर समझा करते हैं।

क्रोचे आरम्भ में ही कला सम्बन्धी उद्भावना को ज्ञान-स्वरूप (भावानुभूति-स्वरूप या आस्वादस्वरूप नहीं) मानकर चला है, यद्यपि आगे चलकर उसने माना है कि इस ज्ञान के साथ एक विशेष प्रकार का आनन्द भी बराबर लगा रहता है। उसके मत में यह आनन्द और सब प्रकार के आनन्दों से सर्वथा भिन्न होता है। काव्य को ही लीजिए। उसमें सुखात्मक (जैसे, रति, हास) और दुःखात्मक (जैसे, शोक, जुगुप्सा) दोनों प्रकार के भावों की अभिव्यंजना होती है। अतः यह प्रश्न उठता है कि शोक या करुणा की अनुभूति आनन्द-स्वरूप कैसे होगी। इस उलझन से पीछा छुड़ाने के लिए आधुनिक 'सौन्दर्यशास्त्र' में अनुभूत्या भास (Apparent feelings) का सिद्धान्त निकाला गया है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का कहना है कि "कला-सम्बन्धनी अनुभूति अनुभूत्याभास मात्र होती है, वह बहुत तीव्र और क्षोभकारिणी नहीं होती।" क्रोचे कहता है कि वह बहुत तीव्र या क्षोभकारिणी इसलिए नहीं होती कि उसका सम्बन्ध केवल उक्ति के स्वरूप (Form) से होता है। जीवन के वास्तविक मनोविकार जो इतने तीव्र और क्षोभकारक होते हैं वह इस कारण कि उनका सम्बन्ध वस्तु या तथ्य (Matter) से होता है। वास्तविक स्थिति या वस्तु की अनुभूति एक बात है, अभिव्यंजना दूसरी बात। दोनों को दो भिन्न भिन्न क्षेत्रों के विषय समझना चाहिए। कला में तो विचार की बात है अभिव्यंजना।

कला के क्षेत्र में 'सुन्दर-असुन्दर' का प्रयोग अभिव्यंजना या उक्ति के लिए ही हो सकता है, यह कह आए हैं। अभिव्यंजना या उक्ति को न लेकर यदि हम वर्ण्य वस्तुओं को लेते हैं तो सुन्दर-असुन्दर ही नहीं और भी अनेक प्रकार के भेद

ठहरते हैं जैसे, सुन्दर, कुरूप, बीभत्स, भयानक, भव्य, अद्भुत, दिव्य इत्यादि। आलम्बनों के इन गुणों के अनुसार साहित्य में अनेक भेद किए भी गए हैं। क्रोचे कहता है कि ये सब भेद कला के काम के नहीं; इनका ठीक स्थान मनोविज्ञान में है इन अनेक श्रेणियों में विभक्त प्रमेयों या वस्तुओं का कला से केवल इतना ही लगाव है कि उसकी अभिव्यंजना में ये सबकी सब वस्तुएँ जीवन-क्षेत्र से संगृहीत उपादान या मसाले का काम देती हैं अर्थात् काव्य की उक्ति में इनका भी प्रतिबिम्ब आ जाया करता है। एक दूसरा आकस्मिक सम्बन्ध यह भी है कि वास्तविक जीवन में अनुभूत होनेवाली इन वस्तुओं की प्रतीति के भीतर कभी कभी कला का आभास भी आ जाया करता है।*

इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि कला सौन्दर्य का विधान करती है। पर काव्य आदि कलाओं में असुन्दर और कुरूप वस्तुओं का वर्णन भी बराबर आया करता है। अतः अभिव्यंजना या उक्ति को न पकड़ कर वर्ण्य वस्तु को पकड़नेवालों के लिए सुन्दर के भीतर कुरूप या असुन्दर वस्तुओं के लिए स्थान निकालने में बड़ी अड़चल पड़ी। कुछ लोगों ने कहा कि काव्य आदि में असुन्दर और बीभत्स आदि विरुद्ध वस्तुएँ सुन्दर को और झलकाने के लिए रखी जाती हैं। पर क्रोचे के अनुसार यह सब बखेड़ा व्यर्थ है और अभिव्यंजना या उक्ति के स्वरूप को ही पकड़ने से दूर हो जाता है।

अब क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना का असल स्वरूप क्या है, यह भी थोड़ा देख लीजिए। वह कहता है कि साधारणतः लोग कवि के शब्दों, गायक के स्वरों, चित्रकार के खींचे हुए आकारों को ही अभिव्यंजना समझा करते हैं। कभी अभिव्यंजना का अर्थ लज्जा से आँखें नीची करना, भय से काँपना, क्रोध से दाँत

* The facts...bear no relation to the artistic fact beyond the generic one that all of them, in so far as they designate the material of life, can be represented by art, and the other accidental relation, that aesthetic fact also may sometimes enter into the processes described.

पीसना इत्यादि समझा जाता है। पर ये कला की अभिव्यंजनाएँ नहीं हैं, भौतिक अभिव्यंजनाएँ हैं। अनेक प्रकार की उग्र चेष्टाएँ करते हुए, क्रोध से तिलमिलाते हुए मनुष्य में और कला-पक्ष से क्रोध की अभिव्यंजना करते हुए मनुष्य में बड़ा अन्तर है। इस प्रकार की भौतिक अभिव्यंजना कला-शून्य होती है। कला की असल अभिव्यंजना तो है कल्पना, जो एक आध्यात्मिक क्रिया है। शब्द, रंग, भौतिक रूप, चेष्टा इत्यादि तो कल्पना को, आध्यामित्क वस्तु को, प्रकाशित करनेवाली 'भौतिक अभिव्यंजना' है। कला की अभिव्यंजना की प्रक्रिया का यह क्रम कहा जा सकता है—

(१) अन्तःसंस्कार (Impressions),

(२) अभिव्यंजना अर्थात् कलापरक आध्यात्मिक योजना या कल्पना (Expression or Spiritual aesthetic synthesis),

(३) सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द (Hedonistic accompaniment or pleasure of the beautiful),

(४) कलापरक आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना) का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण (शब्द, स्वर, चेष्टा, रंग-रेखा आदि)।

इन सबमें मूल प्रक्रिया है नंबर २ अर्थात् अभिव्यंजना। ये चारों विधान पूरे हो जाने पर अभिव्यंजना का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है।

यहाँ तक तो क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' हुआ जिसे जहाँ तक संक्षेप में और जहाँ तक स्पष्ट रूप में हो सका मैंने आप महानुभावों के सम्मुख रखा। 'कल्पना आध्यात्मिक जगत् का आभास है,' 'कला कला ही के लिए है,' 'कल्पना का लोक ही निराला है,' 'काव्य नूतन सृष्टि है, प्रकृति के किसी खंड का अनुकरण नहीं,' 'प्रकृति को भावना के नए रूप-रंग में दिखाना ही काव्य है,' 'काव्य सौन्दर्य की साधना है' इत्यादि अनेक वादों और प्रवादों का समन्वय इसके भीतर मिलता है। इसी से इसका थोड़ा विवरण देकर मैंने आप लोगों का समय लिया। आज-कल हमारे साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र में भी बड़े यत्न से गृहीत जो अनेक चमत्कारपूर्ण वाक्य, शब्द और उक्तियाँ बिखरी हुई मिला करती हैं, उनके मूल-स्थान और तात्पर्य का पता-ठिकाना भी इसमें मिलेगा। योरप में 'कला' और 'सौदर्य' की पुकार किस प्रकार काव्य-समीक्षा को भी

इस 'वाद' की ओर धीरे धीरे घसीटती रही, यह पहले कहा जा चुका है। 'सौन्दर्य-शास्त्र' में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्त्तिकला आदि शिल्पों का विचार होने लगा उसी प्रकार काव्य का भी। सबसे बेढंगी बात तो यही हुई। अतः इस वाद का प्रतिषेध करने के पहले मैं यही कह देना चाहता हूँ कि 'सौन्दर्य-शास्त्र', जिसके भीतर इसका निरूपण हुआ है, काव्य-सम्बन्धी मीमांसा का ठीक स्थान हो नहीं। पहले तो 'सौन्दर्य-शास्त्र' अभी कोई ठीक-ठिकाने का शास्त्र नहीं—कभी होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि हो भी तो काव्य से उसका सम्बन्ध नहीं।

सच बात तो यह है कि काव्य के स्वरूप-लक्षण में 'सुन्दर' शब्द उतने काम का नहीं जितना समझा जाने लगा है। इसी से पंडितराज ने अपने काव्य-लक्षण में 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग न करके 'रमणीय' शब्द का प्रयोग किया है। 'रमणीय' का अभिप्राय है जिसमें मन रमे अर्थात् जिसे मन अपने सामने कुछ देर रखना या बार बार लाना चाहे। कोरी कहानी की अलग अलग घटनाओं में मन रमता नहीं; उसके किसी खंड पर कुछ देर जमा नहीं रहना चाहता। कहानी सुननेवाला कहता है, 'तब क्या हुआ ?'; कविता सुननेवाला, 'ज़रा फिर तो कहिए।' अर्थ के मैदान में 'सुन्दर' शब्द की दौड़ उतनी नहीं है जितनी 'रमणीय' शब्द की। दूसरी बात यह है कि 'सुन्दर' शब्द बाह्यार्थ की ओर संकेत करता जान पड़ता है और 'रमणीय' शब्द हृदय की ओर। इसी से काव्य की समीक्षाओं में 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करके, कभी कभी फिर यह कहने की ज़रूरत पड़ा करती है कि 'सौन्दर्य तो मन की भावना है, किसी बाहरी वस्तु में स्थित कोई गुण नहीं।' यह 'सुन्दर' शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को संकुचित करता है। प्रत्येक कविता का ग्रहण सौन्दर्यानुभूति के रूप में नहीं होता। क्रोचे या अपने यहाँ के चमत्कारवादी और वक्रोक्तिवादी के अनुसार यदि हम अभिव्यंजना या कल्पना की उड़ान को ही सब कुछ मानें तो भी 'सुन्दर' शब्द बिना खींचतान के सर्वत्र काम नहीं देता। बहुत सी उक्तियों से केवल एक प्रकार का चमत्कारपूर्ण प्रसादन होता है।

संसार में मनुष्य-जाति के बीच कविता हृदय के भावों को ले कर ही उठी है। प्रेम, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि की व्यंजना के लिए ही आदिम कवियों ने अपना स्निग्ध कंठ खोला था। तब से आज तक संसार की प्रत्येक सच्ची कविता की तह में भावानुभूति आत्मा की तरह रहती चली आ रही है। काव्य में भाव के आलम्बन (कभी कभी उद्दीपन) के रूप में ही जगत् की किसी वस्तु का ग्रहण हो सकता है, और किसी रूप में नहीं। कविता-देवी के अन्तःपुर में 'सुन्दर' 'प्रिय' होकर ही प्रवेश कर सकता है। जो 'सुन्दर' प्रेम का आलम्बन होता है जिसकी ओर हमारी रागात्मिका वृत्ति प्रवृत्त होती है, जिसका स्मरण आने पर हृदय द्रवीभूत हो सकता है—चाहे वह व्यक्ति या वस्तु हो, चाहे प्रकृति का कोई खंड—वही काव्य का असली अंग हो सकता है। बेल-बूटे या नक्काशी की सौन्दर्य-भावना भावानुभूति के रूप में नहीं होती। अतः कलावादियों को भावानुभूति से सौन्दर्य-भावना को अलग करना पड़ा। तब से तरह तरह के सौन्दर्य-शास्त्र बनने लगे जिनमें एक दूसरे से भिन्न 'सौन्दर्य' के पचीसों लक्षण और उसके सम्बन्ध में पचीसों मत प्रकाशित होते आ रहे हैं, जो कलाओं पर तो कुछ दूर तक घटते हैं पर काव्य को दूर ही दूर से छूते हैं।

इन मतों का योरप के अनेक कवियों की रचनाओं पर थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ता ही है, पर सच्चे कवियों पर नहीं। अधिकांश की रचनाएँ हृदय की मार्मिकता से ही सम्बन्ध रखती हैं। कुछ को यह 'कलावाद' और 'सौन्दर्यवाद' का हल्ला खटकता भी है। हाल में इंगलैंड में रूपर्ट ब्रुक (Rupert Brooke) नामक एक कवि हुआ है जो कवित्व की सच्ची मार्मिक भावना लेकर इस जगत् में आया था, पर थोड़ी अवस्था में ही सन् १६१४ के योरपीय महायुद्ध में मरा। उसने सौन्दर्यवादियों के नाना मतों को अपनी अपनी भली-बुरी रुचि का आलाप मात्र कहा, विशेषतः क्रोचे के वितंडावाद को। वहाँ के और सच्चे कवियों के समान उसे भी उसी प्रकार भाव या हृदय की मार्मिक अनुभूति में ही

कविता की आत्मा के दर्शन होते थे जिस प्रकार भारतीय सहृदयों और कवियों को। काव्य में सौन्दर्य-भावना को एक अलग अनुभूति माननेवालों के इस तर्क को कि "जब कोई कहता है कि यह वस्तु 'सुन्दर' है तब उसका यह मतलब नहीं होता कि वह प्रिय (अर्थात् प्यार करने की वस्तु) है; अतः सिद्ध है कि सौन्दर्य की भावना का प्रिय की भावना से अलग अस्तित्व है" उसने लचर कहा था।*

सारा उपद्रव काव्य का कलाओं के भीतर लेने से हुआ है। इसी कारण काव्य के स्वरूप की भावना भी धीरे धीरे बेल-बूटे और नक्काशी की भावना के रूप में आती गई। हमारे यहाँ 'काव्य' की गिनती चौंसठ कलाओं में नहीं की गई है। इसी से यहाँ वाग्वैचित्र्य के अनुयायियों द्वारा चमत्कारवाद, वक्रोक्तिवाद आदि चलाए जाने पर भी इस प्रकार का वितंडावाद नहीं खड़ा किया गया। इधर हमारी हिन्दी में भी काव्य-समीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।

अब मैं क्रोचे की मुख्य मुख्य बातों को, विशेषतः ऐसी बातों को जो काव्य के सम्बन्ध में भारतीय भावना के विरुद्ध पड़ती हैं विचार के लिए लेता हूँ—

पहले इस प्रश्न को लीजिए कि काव्य-सम्बन्धिनी भावना का मूल या प्रधान रूप क्या है? क्रोचे ने कल्पना-पक्ष को प्रधानता देकर उसका

---

* It is possibly true, that when men say 'This is beautiful', they do not mean 'This is lovely'. 'They may mean that aesthetic emotion exists. My only comments are that it does not follow that the aesthetic emotion does exist; and that, as matter of fact, they are wrong.

—John Webster and The Elizabethan Drama.

रूप 'ज्ञानात्मक' कहा है। हमारे यहाँ के रससिद्धान्त के अनुसार उसका मूल रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है। मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव' कोई एक अकेली वृत्ति नहीं, एक वृत्ति-चक्र (System) है जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान (Cognition), इच्छा या संकल्प (Conation), प्रवृत्ति (Tendency) और लक्षण (Symptoms)—ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं। अतः भाव का एक अवयव प्रतीति या बोध भी होता है। रस-निरूपण में जो 'विभाव' कहा गया है वही कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव है जो भाव का संचार करता है। कवि और पाठक दोनों के मन में कल्पना कुछ मूर्त्त रूप या आलम्बन खड़ा करती है जिसके प्रति किसी भाव का अनुभव होता है। उस भाव की अनुभूति के साथ साथ आलम्बन का बोध या ज्ञान भी बना रहता है। आलम्बन चाहे व्यक्ति हो, चाहे वस्तु; चाहे व्यापार या घटना, चाहे प्रकृति का कोई खंड। इससे यह स्पष्ट व्यंजित है कि भावानुभूति के योग में ही कल्पना का स्थान काव्य के विधान में हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है यों तो मूर्त्त रूप मन में बराबर उठा करते हैं—कभी कभी ये रूप परस्पर अन्वित होकर भी कोई ऐसी योजना मन में नहीं लाते जिसे कोई काव्य कह सके—जैसे, किसी मशीन के सारे कलपुरजों का रूप। कभी कभी मूर्त्त भावना या कल्पना वैज्ञानिक या दार्शनिक विचार में प्रयोजनीय होती है। अतएव काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त्त रूप अंग—भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।

कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति (Perception) मात्र को 'ज्ञान' कहना उसे ऊँचे दर्जे को पहुँचाना है। योरप में पुराने जमाने के ईसाई सन्तों को, जब वे ईश्वर-प्रेम में बेसुध और उन्मत्त होते थे, अनेक प्रकार के आध्यात्मिक 'आभास' हुआ करते थे जिन्हें वे अटपटी बानी में,

अध्यवसित विचित्र रूपकों या अन्योक्तियों द्वारा प्रकट किया करते थे। उनके तरह तरह के अर्थ लगाए जाते थे पर 'लखै कोई विरलै'। उन 'आभासों' के सम्बन्ध में कहा यह जाता था कि वे सूक्ष्म आध्यात्मिक जगत् की बातें हैं, अतः स्थूल जगत् के नाना रूपों के सहारे अभिव्यंजित होकर व्यक्त हो सकती हैं। इसी मजहबी रहस्यवाद का संस्कार क्रोचे के निरूपण में छिपा है जिसके कारण वह कल्पना को 'ज्ञान' कहता है। 'ज्ञान' शब्द में एक विशेष गुरुत्व या महत्त्व है। अतः जो अन्तर्दशा जिसे बहुत प्रिय होगी उसे यह महत्त्व देना उसके लिए स्वाभाविक ही है। यदि ऐसी अन्तर्दशा लोगों की दृष्टि में बे-ठौर-ठिकाने की हुई तो उसे वह उच्च भूमि का ज्ञान, आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान, कह देगा। *

फ्रांस के दार्शनिक बर्गसन (Bergson) पर भी उपर्युक्त संस्कार का प्रभाव पूरा पूरा है। कल्पना-रूपी स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) को वह भी 'आत्मा की अपनी सृष्टि' और 'पारमार्थिक ज्ञान' कहता है और बुद्धि की विवेचना द्वारा उपलब्ध ज्ञान या प्रमा को व्यावहारिक ज्ञान। कल्पना को आध्यात्मिक आभास घोषित करने का प्रभाव योरप के काव्य-रचना-क्षेत्र में भी बहुतों पर पड़ा है, और बुरा पड़ा है। जब कि कल्पना में आई हुई बात अध्यात्म-जगत् की होती है तब कम से कम उसका रूप-रंग तो इस जगत् से कुछ विलक्षण होना चाहिए। इस धारणा

---

* Any state of mind in which any one takes a great interest is very likely to be called 'Knowledge.' If this state of mind is very unlike those usually so called, the new 'Knowledge' will be set in the opposition to be old and praised as of superior, more real and more essential nature—Meaning of Meaning (C. K. Ogden and I. A. Richards).

की हद पर पहुँचा हुआ 'दूसरे जगत् के पंछियों' का एक दल अँगरेजी के काव्य-क्षेत्र से गुजर चुका है। *

रहा दार्शनिकता का यह मजहबी पुट कि मूर्त्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है। यह तो केवल आवश्यकता पड़ने पर अव्यक्त और अनिर्वचनीय का सहारा लेने के लिए दिया गया है। जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकले हुए रूप कहता है, वे वास्तव में बाह्य जगत् से प्राप्त किए हुए रूप हैं। इन्द्रियज ज्ञान के जो संस्कार (छाप) मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी यों ही, भिन्न भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं। यही मूर्त्त भावना या कल्पना है। यह अन्विति या योजना बाह्य जगत् से प्राप्त रूपों के ढंग पर होती है जिसमें एक एक रूप की सत्ता अलग अलग बनी रहती है। इस अन्वित रूप-समूह को आध्यात्मिक 'साँचा' कहना और पृथक् पृथक् रूपों को उस साँचे में भरा जानेवाला 'मसाला' बताना, वितंडावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? किसी साँचे में जो वस्तुएँ भरी जायँगी, वे घुल-पिसकर गीली मिट्टी या गारा हो जायँगी, उनके पृथक् पृथक् रूप कहाँ रह जायँगे? पर कल्पना में जो रूप-समष्टि खड़ी होती है, उसके अन्तर्भूत रूपों की अलग अलग प्रतीति होती है।

कल्पना में आए हुए रूप आध्यात्मिक जगत् के हैं, बाह्य जगत् से प्राप्त नहीं हैं, पुराने ईसाई सन्तों और ब्लेक के इसी प्रवाद को ग्रहण करने के कारण 'साँचों' की विलक्षण उद्भावना की गई है। बात यह है कि उक्त प्रवाद को सुनकर एक साधारण समझ का आदमी भी शंका कर सकता है कि यदि कल्पना में आए हुए रूप बाह्य जगत् के रूपों की छाप नहीं हैं; खास आत्मा से निकले हुए हैं, तो उनकी उद्भावना जन्मान्धों को भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी आँखवालों को। इसके समाधान का प्रयास चट यह कहकर किया जायगा कि आत्मा से केवल सूक्ष्म

* Their theory was that they were to sing, as far as possible like birds of another world.—Poetry and Renasence of Wonder (T. W. Dunton).

'साँचे' निकला करते हैं जो बाह्य जगत् से प्राप्त मूर्त्त द्रव्य के भराव के बिना व्यक्त ही नहीं हो सकते। जन्मान्धों की आत्मा से भी ये सूक्ष्म साँचे निकलते हैं, पर अव्यक्त ही रह जाते हैं। अब इस अव्यक्त का प्रमाण माँगने कौन जायगा ?

क्रोचे ने जिसे बाह्य जगत् या जीवन से इकट्ठा किया हुआ 'द्रव्य' या उपादान (मसाला) कहा है उसके अन्तर्गत प्रकृति के नाना रूप-व्यापार, जीवन की भिन्न भिन्न घटनाएँ या तथ्य सब कुछ हैं। जब कि ये 'द्रव्य' या उपादान मात्र हैं तब कला की अभिव्यंजना में इनकी वास्तविकता-अवास्तविकता, औचित्य-अनौचित्य, योग्यता-अयोग्यता आदि का विचार अपेक्षित नहीं। योग्यता-अयोग्यता का विचार कहाँ तक और किस रूप में अपेक्षित होता है, इसका विचार मैं शब्द-शक्ति के प्रसंग में अर्थ की योग्यता के अन्तर्गत पहले कर चुका हूँ।* अब औचित्य-अनौचित्य लीजिए। लोक की रीति-नीति, आचार-व्यवहार, की दृष्टि से अनौचित्य शिल्प अर्थात् बेल-बूटे, नक्काशी आदि की सौन्दर्य-भावना में तो सचमुच कोई बाधा नहीं डालता, पर काव्य का प्रभाव कभी कभी बहुत हलका कर देता है। यही बात हमारे यहाँ 'रसाभास' और भावाभास के अन्तर्गत सूचित की गई है। काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालनेवाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते। काव्यानुभूति जीवन-क्षेत्र में संचित अनुभूतियों का ही रसात्मक रूप है। अत्यन्त अनूठी उक्ति द्वारा कही हुई दुराचार की बात से अनुरंजन हो सकता है, पर उसमें कुछ विरक्ति भी मिली रहेगी। यदि भाव-व्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए, तो 'साधरणीकरण' न होगा, अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा; उस भाव में लीन न होगा।

* [देखिए पीछे पृष्ठ १६३–१६६]

'कला कला ही के लिए' इस पुराने प्रवाद ने कुछ दिनों से यह सवाल खड़ा कर रखा है कि 'सदाचार का काव्य में कोई स्थान है या नहीं'। सन् १८९१ में इंगलैंड के आस्कर वाइल्ड ने (Oscar Wilde) बड़े धड़ल्ले के साथ कहा "समालोचना में सबसे पहली बात तो यह है कि समालोचक को यह परख हो कि 'कला' और 'आचार' के क्षेत्र सर्वथा पृथक् पृथक् हैं।" तब से कई इसी का अनुवाद करते आए, जैसे "कला स्वतः न सदाचारपरक हो सकती है, न दुराचार-परक", "कला के भीतर नैतिक सदसत् का भेद आ ही नहीं सकता।" आप लोग फिर देखें कि ये दोनों कथन भी बेल-बूटे और नक्काशी पर ही ठीक घटते हैं। उन्हीं की धारणा यहाँ भी काम कर रही है। यह तो स्पष्ट ही है कि 'काव्य और सदाचार' के सम्बन्ध में यह मत 'कला कला ही के लिए' वाले वाद का एक पुछल्ला है। उस वाद को उड़े बहुत दिन हो गए। जो कुछ उसका अवशेष था उसे इंगलैंड के अत्यन्त निर्मल-दृष्टि वर्तमान समालोचक रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने योरपीय समीक्षा-क्षेत्र के बहुत से निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा-करकट के साथ हटा दिया है और साफ़ कह दिया है कि सदाचार से कला का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के एक बड़े उत्साही प्रचारक मि० स्पिंगर्न (J. E. Spingarn) हैं जिन्होंने 'समालोचना की नई पद्धति' (The New Criticism) नाम की एक छोटी सी पुस्तिका (जिसे एक पैंफ्लेट कहना चाहिए) में इन वादों की कुछ बातें अधूरे, अनपचे और असम्बद्ध रूप में इकट्ठी कर दी हैं। 'काव्य में नैतिक सदसद् का विचार अनपेक्षित है' इस मत का बड़े जोश के साथ उन्होंने उस पुस्तिका में इस प्रकार कथन किया है— "शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार-दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसा रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचार-पूर्ण।" पर जिस पेड़ की जड़ ही कट गई, उसकी डालियों को कोई कैसे हरी कर सकता है?

अभी सन् १९२९ में कलिफोर्निया (अमेरिका) विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग के आचार्यों के आलोचना-सम्बन्धी निबन्धों का जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसमें प्रो० ह्विप्ल (T. K. Whipple) का 'काव्य और सदाचार' (Poetry and Morals) पर एक निबन्ध है। इस निबन्ध में इस मत का कि 'काव्य के भीतर नैतिक सदसत् का भेद आ ही नहीं सकता' कई तरह से निराकरण कर दिया गया है। निबन्ध के आरम्भ में ही उन्होंने स्पिगर्न के उपर्युक्त कथन को यह कह-कर लिया है कि "और कुछ कहने के पहले मैं इस पुरानी लकीर के समर्थक मि० स्पिगर्न के कथन को लेता हूँ*।" प्रो० ह्विप्ल ने अपने निबन्ध में यह दिखा दिया है कि 'कला स्वतः' का कोई अर्थ नहीं। कविता मनुष्य के हृदय की अनुभूति है जो मनुष्य के ही हृदय में पहुँचाई जाती है। अतः मनुष्य के साथ उसका सम्बन्ध नित्य है। मानव-जीवन से असम्बद्ध उसका कुछ मूल्य नहीं। प्रो० ह्विप्ल अन्त में उस पक्ष पर आ गए हैं जिसके विचार से हमारे यहाँ 'रसाभास' और 'साधारणीकरण' का निरूपण हुआ है। वह है श्रोता या पाठक का पक्ष। श्रोता मनुष्य-समाज में रहनेवाला प्राणी होता है। जीवन में सत् असत् की जो भावना वह प्राप्त किए रहेगा, किसी काव्य द्वारा प्राप्त अनुभूति का सामंजस्य उसके साथ वह अवश्य चाहेगा। यदि यह सामंजस्य न होगा तो उस काव्य

---

* Before I speak further let me quote what I consider the most vigorous statement of the orthodox view, from Mr. Spingorn's 'The New Criticism'.

—Essays in Criticism.

(by Members of the Department of English, University of California, 1929).

यह मैंने यहाँ इसलिए उद्धृत कर दिया है जिसमें 'कला में सदाचार का विचार अनपेक्षित है' इसे एक आधुनिक सिद्धान्त बताकर गंदी और कुरुचि-पूर्ण पुस्तकों की तीव्र आलोचना का रास्ता न रोका जाय।

का पूरा रसात्मक ग्रहण वह न कर सकेगा। कविता वही सार्थक है जो दूसरे के हृदय में जाकर अपना प्रकाश कर सके, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

"मनि, मानिक, मुकता छवि जैसी।
अहि, गिरि, गज-सिर सोह न तैसी।
नृप-किरीट तरुनी-तन पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसइ सुकवि-कवित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं।"

हमारे यहाँ रस के प्रकरण के आरम्भ में ही सच्ची रस की अनुभूति कैसे होती है यह बताते हुए 'सत्त्वोद्रेकात्' कहकर झगड़ा साफ़ कर दिया गया है। रसानुभूति के समय प्रकृति सत्त्वस्थ रहती है, रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव उस समय नहीं रहता।

अब रही यह बात कि काव्य की अनुभूति और वस्तु है भाव की अनुभूति और अर्थात् काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में नहीं होती। क्रोचे का तर्क यह है कि भावानुभूति सुखात्मक या दुःखात्मक हुआ करती है। शोक, घृणा, भय आदि दुःखात्मक अनुभूतियाँ हैं, पर इनकी व्यंजना काव्य में होती है। यदि भावानुभूति के रूप में काव्यानुभूति मानें तो इनकी व्यंजना की अनुभूति दुःखात्मक होगी। पर इनकी व्यंजना वाले काव्य भी लोग बराबर पढ़ते हैं, सुनते हैं। क्या लोग व्यर्थ बैठे बिठाए दुःख मोल लेते हैं? क्रोचे द्वारा उपस्थित की हुई बाधा बहुत पुरानी है। हजारों वर्ष से लोग इसके समाधान का प्रयत्न करते आए हैं। हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में भी ऐसा प्रयत्न हुआ है, पर मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि उससे समाधान नहीं होता। शंका का समाधान तो नहीं होता पर यह भासित अवश्य हो जाता है कि काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होती है। बात यह है कि पूर्व पक्ष बहुत ही सटीक है। वह यह कि यदि रसानुभूति आनन्दस्वरूप ही है तो करुण-रस के नाटक आदि पढ़ने देखने से श्रोताओं या दर्शकों को आँसू क्यों

आ जाते हैं ? आँसू का आना भावोद्रेक का बाह्य लक्षण (Symptom) है। अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तो साफ प्रकट है कि काव्यानुभूति भावानुभूति के रूप में ही होती है। रहा यह कि वह आनन्दस्वरूप होती है या नहीं। मुझे इस बात का विशेष आग्रह नहीं।

मनोविज्ञानियों ने भी इस विषय को विचार के लिए लिया है। कुछ ने तो काव्य-श्रवण से उत्पन्न भावानुभूति को क्रीड़ावृत्ति (Play-impulse) मानकर सन्तोष किया है, कुछ ने अनुभूत्याभास (Apparent feelings) कहकर। मेरा अपना विचार कुछ और है। मैं इस दशा को हृदय की मुक्त दशा मानता हूँ—ऐसी मुक्त दशा जिसमें व्यक्तिबद्ध घेरे से छूटकर वह अपनी स्वच्छन्द भावात्मिका क्रिया में तत्पर रहता है। इस दशा को प्राप्त करने की प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, चाहे इस दशा को आप 'आनन्द' कहिए या न कहिए। 'आनन्द' कहिएगा तो उसके पहले 'अलौकिक' लगाना पड़ेगा और कहना न कहना बराबर हो जायगा।

भाव या हृदय की अनुभूति ऐसी वस्तु से, जिसका सच्ची कविता के साथ नित्य सम्बन्ध है, पीछा छुड़ाना क्रोचे के लिए सहज न था। एक स्थान पर उसकी सत्ता उसे स्वीकार करनी पड़ी है। वह कहता है, "द्रव्य वह भावात्मकता है जो कला के रूप में निरूपित न हुई हो।"* 'द्रव्य' से उसका अभिप्राय मन के भीतर बाह्य प्रकृति के रूप-संस्कारों (छापों) से है, यह मैं सूचित कर आया हूँ। मन में संचित बाह्य जगत् के नाना रूपों की भावात्मकता का मतलब क्या हो सकता है ? यही न कि उनमें भावों के उद्बोधन की शक्ति होती है। बस, यही तो मेरा—मेरा क्या काव्य से वास्तव में प्रभावित होनेवालों मात्र का—पक्ष है। काव्य में उन रूपों का विधान इसी लिए होता है कि वे किसी भाव को, हृदय की किसी मार्मिक वृत्ति को, जगाएँ। अतः सच्ची काव्यानुभूति भावानुभूति के ही रूप में होती है, यह सिद्ध है।

*Matter is emotivity not aesthetically elaborated.

अब अलंकारों को लीजिए। क्रोचे अलंकार-अलंकार्य का भेद न मानकर अलंकार को शाब्दिक अभिव्यंजना या उक्ति से भिन्न कोई पदार्थ नहीं मानता। उसकी यही बात इधर उधर से आकर हमारे नए काव्य-क्षेत्र में भी इस रूप में सुनाई पड़ा करती है कि "अलंकार कोई चीज़ नहीं, उसका ज़माना गया।" पर नई रंगत की कविताओं को देखिए तो पता चलता है कि उसी का ज़माना आज-कल आ गया है। बात यह है कि आज-कल इस प्रकार के लटके कि "रस-अलंकार तो पुरानी चीज़ें हैं, उनका ज़माना गया" इधर उधर से नोचकर ही दुहराए जाते हैं। वे कहाँ से आए हैं, उनका पूरा मतलब क्या है, यह सब जानने या समझने की कोई ज़रूरत नहीं समझी जाती। इन वाक्यों को बात बात में दुहरानेवालों में से अधिकांश तो इतना ही जानते हैं कि रस-अलंकार आदि हमारे साहित्य के बहुत काल से व्यवहृत शब्द हैं, अँगरेज़ी शब्दों के अनुवाद नहीं। इससे इनका नाम लेना फ़ैशन के ख़िलाफ़ है। दिन में सैकड़ों बार 'हृदय की अनुभूति, हृदय की अनुभूति' चिल्लायँगे, पर 'रस' का नाम सुनकर ऐसा मुँह बनाएँगे मानो उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आए हैं। भलेमानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझकर 'हृदयवाद' लेकर सामने न आते। सम्भव है इसका पता पाने पर कि 'हृदयवाद' तो 'रसवाद' ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें। शब्द-शक्ति, रस और अलंकार, ये विषय-विभाग काव्यसमीक्षा के लिए इतने उपयोगी हैं कि इनको अन्तर्भूत करके संसार की नई पुरानी सब प्रकार की कविताओं की बहुत ही सूक्ष्म, मार्मिक और स्वच्छ आलोचना हो सकती है। रिचर्ड्स (I. A. Richards) ऐसे वर्त्तमान अँगरेज़ी समालोचक किस प्रकार अब समीक्षा में बहुत कुछ भारतीय पद्धति का अवलम्बन करके कूड़ा-करकट हटा रहे हैं, यह मैं शब्द-शक्ति के प्रसंग में दिखा चुका हूँ। ख़ैर, अब प्रस्तुत विषय पर आना चाहिए।

अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता। शब्द-शक्ति के प्रसंग

में हम दिखा आए हैं कि उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी हो उसकी तह में कोई 'प्रस्तुत अर्थ' अवश्य ही होना चाहिए। इस अर्थ से या तो किसी तथ्य की या भाव की व्यंजना होगी। इस 'अर्थ' का पता लगाकर इस बात का निर्णय होगा कि व्यंजना ठीक हुई है या नहीं। अलंकारों (अर्थालंकारों) के भीतर भी कोई न कोई अर्थ व्यंग्य रहता है, चाहे उसे गौण ही कहिए। उदाहरण के लिए पन्त जी की ये पंक्तियाँ लीजिए—

"बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित
—इसी में था असीम अवसित।"

इसका प्रस्तुत अर्थ इस प्रकार कहा जा सकता है—"वह बालिका अपने बाल्य-जीवन के प्रवाह की सीमा के भीतर उछलती कूदती थी। उसके उस बाल्य-जीवन में अत्यन्त अधिक और अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता था।"

बिना इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे, न तो कवि की उक्ति की समीचीनता की परीक्षा हो सकती है, न उसकी रमणीयता के स्थल ही सूचित किए जा सकते हैं। अब यह देखिए कि उक्त प्रस्तुत अर्थ को कवि की उक्ति सुन्दरता के साथ अच्छी तरह व्यंजित कर सकी है या नहीं। पहले 'बाल्य-सरिता' यह रूपक लीजिए। कोई अवस्था स्थिर नहीं होती, प्रवाह-रूप में बहती चली जाती है, इससे साम्य ठीक है। अब नदी की मूर्त्त भावना का प्रभाव लीजिए। नदी की धारा देखने से स्वच्छता, द्रुत गति, चपलता, उल्लास आदि की स्वभावतः भावना होती है, अतः प्रभाव भी वैसा ही रम्य है जैसा भोलीभाली स्वच्छ-हृदय प्रफुल्ल और चंचल बालिका को देखने से पड़ता है। अतः कह सकते हैं कि यह रूपक समीचीन और रम्य है। बाल्यावस्था या कोई अवस्था हो उसकी दो सीमाएँ होती हैं—एक सीमा के पार व्यतीत अवस्था होती है दूसरी के पार आनेवाली अवस्था। अतः 'दो कूलों' भी बहुत ठीक है। तरंग नदी की सीमा के भीतर ही उछलती है, बालिका भी बाल्यावस्था के बीच

स्वच्छन्द क्रीड़ा करती है। अतः'तरंग सी' उपमा भी अच्छी है। असीम अर्थात् ब्रह्म अनन्त-आनन्द-स्वरूप है और उस बालिका में भी अपरिमित आनन्द का आभास मिलता है अतः यह कहना ठीक ही है कि मानोंउस ससीम बाल्य-जीवन के भीतर असीम आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही आ बैठा है। इसलिए यह प्रतीयमान उत्प्रेक्षा भी अनूठी है क्योंकि इसके भीतर 'अधिक' अलंकार के वैचित्र्य की भी झलक है।

यह सब समीक्षा प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद समझकर प्रस्तुत अर्थ को सामने रखने से ही सम्भव है। यह लटका कि 'कला की अभिव्यंजना का अर्थ क्या ?' चल नहीं सकता। पुराने कलावाद के प्रचारक मि० स्पिंगर्न भी काव्य की समीक्षा में यह देखना आवश्यक समझते हैं कि 'कवि क्या करने बैठा था और कहाँ तक सफलता के साथ उसे वह कर सका।' अब इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ तक पहुँचे विना 'कवि क्या करने बैठा था,' इसका पता कैसे लग सकता है ? इस प्रस्तुत अर्थ को सामने रखे बिना उस कविता की समालोचना किस रूप में हो सकती है ? इसी रूप में न कि "बाल्यसरिता—वाह ! क्या सरलता की स्रोतस्वती बहाई गई है जिसकी मधुमयी तरंगमाला में मन स्वर्गलोक का अंचल चूम आता है। असीम अवसित—देखिए कल्पना किस प्रकार इस ससीम की दीवारें फाँद कर असीम से जा भिड़ी और उसे ससीम के भीतर खींच लाई और संपुटित कर दिया।"

रस-अलंकार आदि के नाना भेद-निरूपण क्रोचे के अनुसार कला के निरूपण में कोई योग न देकर तर्क या शास्त्रपक्ष में सहायक होते हैं। उन सबका मूल्य केवल वैज्ञानिक समीक्षा में है, कला-निरूपिणी समीक्षा में नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपिणी समीक्षा है। उसी का नाम समीक्षा है। उसके अतिरिक्त जो कल्पनात्मक या भावात्मक पदावली व्यवहृत होगी वह समीक्षा न होगी ; किसी कविता का आधार लेकर खड़ा किया हुआ एक हवाई महल होगा, 'धूएँ का धरहरा' होगा। किसी उक्ति के सम्बन्ध में पूछा जायगा कि कैसी है, तो कहा जायगा कि "इसे पढ़कर

ऐसी भावना होती है कि मानों स्वर्गंगा के सुनहरे तट पर कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर पीयूष पान करती हुई किसी अप्सरा ने मेरे ऊपर भूल से कुल्ला कर दिया।" 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव से योरप में समीक्षा के क्षेत्र में इधर तरह तरह की अर्थशून्य पदावली प्रचलित होती आ रही थी—जैसे, 'कला कला के लिए' के बड़े भारी प्रतिपादक डाक्टर ब्रैडले की यह प्रशस्ति "कविता एक आत्मा है। पता नहीं कहाँ से आती है। न तो हमारे आदेश पर वह बोलेगी, न हमारी भाषा में बोलेगी। वह हमारी दासी नहीं, हमारी स्वामिनी है।" इस प्रकार की वाक्य-रचना से काव्य के स्वरूप-बोध में क्या सहायता पहुँच सकती है? समीक्षा के नाम पर इस प्रकार अर्थशून्य वागाडम्बर की चाल निकलती देख अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी समालोचक रिचर्ड्स (I. A. Richards) बहुत खिन्न हुए और उन्होंने इसका कठोर प्रतिषेध किया। *

---

* (1) But these indirect devices for expressing feeling through logical irrelevance and nonsense, through statements not to be taken seriously, though pre-eminently apparent in poerty, are not peculiar to it. A great part of what passes for criticism comes undeor this head.—Practical Criticism, Part III, Chap. I

(2) A few conjectures, a supply of admonitions, many acute isolated observations, some brilliant guesses, much oratory and applied poetry, inexhaustible confusion, a sufficiency of dogma, no small stock of prejudices, whimsies and crotchets, a profusion of mysticism, a little genuine speculation, sundry stray inspirations, of such as these is extant critical theory composed.—Principles of Criticism.

खेद है कि यह अर्थशून्य वागाडम्बर पहले बँगला की मासिक पत्रिकाओं में पहुँचकर और वहाँ से 'छलना', 'कुहकिनी', 'काकली' इत्यादि लेता हुआ हिन्दी के समीक्षा-क्षेत्र में घोर रूप में प्रकट हुआ है। योरप के साहित्य-क्षेत्र की भली-बुरी सब प्रकार की प्रवृत्तियों को ग्रहण करने में बंगाल सबके आगे रहता आया है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की बात पहले कह चुका हूँ। सन् १८८५ में फ्रांस में उठा हुआ रहस्यात्मक मज़हबी प्रतीकवाद, जिसमें कुछ वस्तुओं, शब्दों और ध्वनियों में तान्त्रिकों के ढंग पर विशेष विशेष अर्थों का आरोप किया गया था, ब्रह्मोसमाज की साम्प्रदायिक कविताओं में गृहीत हुआ, फिर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से और व्यापक होकर हिन्दी में आया। पर यहाँ पर प्रसंग समीक्षा के नाम पर कल्पनात्मक और भावात्मक वागाडम्बर का है। इस सम्बन्ध में पहली बात समझने की यह है कि 'समीक्षा' अच्छी तरह देखना और विचार करना है वह जब होगी तब विचारात्मक होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचन द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना भिड़ाने से नहीं। भाषा के दो प्रकार के प्रयोग होते हैं—सांकेतिक (Symbolic) या तथ्य-बोधक तथा भावप्रवर्तक (Emotive)*। समीक्षा प्रथम प्रकार के प्रयोग से ही हो सकती है, दूसरे प्रकार के प्रयोग से नहीं।

कलावाद के प्रचारक मि० स्पिंगर्न का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उन्होंने विचारात्मक आलोचना और भावात्मक समीक्षा में—जिसे उन्होंने प्रभावात्मक समीक्षा (Impressionist Criticism) कहा है—पुरुष और स्त्री का भेद बताया है। प्रथम को उन्होंने 'मरदानी समीक्षा' कहा है, द्वितीय को 'जनानी समीक्षा।'† खैर, यही सही। तब भी अपने

* The Meaning of Meaning (Chap. VII)—C. K. Ogden and I. A. Richards.

† There are two sexes of Criticism—the Masculine Criticism, that never, at all events, is dominated

साहित्य के वर्त्तमान सहयोगियों से इतना निवेदन करूँगा कि "भाइयो कुछ 'मरदानी समीक्षा' भी होनी चाहिए।" केवल इसी प्रकार की समीक्षा से कि "एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है, वह एकाधिक बार मयूर की भाँति अपने सौन्दर्य पर आप ही नाच उठा है," काम नहीं चल सकता।

'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' का इतना विस्तृत उल्लेख मैंने इस कारण किया कि इनका प्रभाव योरप में समीक्षा के स्वरूप पर तो बहुत अधिक और काव्य-रचना के स्वरूप पर भी थोड़ा-बहुत पड़ा है। यदि इन दोनों वादों से उत्पन्न प्रवृत्तियाँ वहीं की वहीं रह जातीं, बंग-भाषा के प्रसाद से हमारे हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में भी न प्रकट होतीं तो मुझे इनके उल्लेख द्वारा आप लोगों का अमूल्य समय नष्ट करने की कोई आवश्यकता न होती। अब मैं नीचे संक्षेप में इन प्रवृत्तियों का उल्लेख करता हूँ।

(१) प्रस्तुत मार्मिक रूपविधान के प्रयत्न का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूपविधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।

(२) जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर भाव या मार्मिक अनुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़ केवल उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

(३) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करनेवाले प्रबन्ध-काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेम-सम्बन्धी मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।

(४) 'अनन्त', 'असीम' ऐसे कुछ शब्दों द्वारा उन पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

---

by the object of its studies; and the Feminine Criticism, that responds to the lure of art with a kind of passive ecstacy.

—Toe New Criticism.

(५) काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प अर्थात् बेल-बूटे और नक्काशी वाली हलकी धारणा।

(६) समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास।

अब इनमें से एक एक को लेकर कुछ विचार करने की आवश्यकता है। आप लोग घबराएँ न, जो कुछ कहना होगा बहुत थोड़े में कहूँगा।

इन छ बातों को अलग अलग लेने के पहले मैं यह प्रतिपादित कर देना चाहता हूँ कि हमारे यहाँ काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे से ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य की साधना से मनुष्य का हृदय जब विश्वहृदय, भगवान् के लोकरक्षक और लोकरंजक हृदय से जा मिलता है तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म-कर्म के साथ, और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है। भक्ति धर्म और ज्ञान दोनों की रसात्मक अनुभूति है। जिस धर्म की साधना में हृदय का योग नहीं वह शुष्क, नीरस और अधूरा है। इसी प्रकार जिस ज्ञान के साथ-साथ हृदय लगा नहीं चलता वह भी शुष्क, नीरस और अधूरा है— उसमें मिठास न रहने का मतलब यह है कि ज्ञानी को ब्रह्म के केवल चित्स्वरूप का कुछ स्पर्श हुआ, आनन्दस्वरूप छूने को रह गया। यही बात गोस्वामी जी ने इस ढंग से कही है—

> ब्रह्म-पयोनिधि, मंदर-ज्ञान, संत सुर आहि।
> कथा-सुधा मथि काढ़हीं, भक्ति-मधुरता जाहि॥

ब्रह्म से गोस्वामी जी का अभिप्राय व्यक्त ब्रह्म—'सिया-राम-मय सब जग'—से है। यह जगत् ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है और समष्टि रूप में शाश्वत और अनन्त है। विशेष रूप अनित्य हैं, पर रूप-परम्परा नित्य है। ज्ञान इस रूप-सागर का मन्थन करके अनेक कथाएँ या तथ्य निकालता है और हृदय उनको आलम्बन के रूप में सामने रख-

कर भक्ति की मधुरता का अनुभव करता है। इस प्रकार जब ज्ञान और भक्ति—बुद्धि और हृदय—दोनों सहयोगी होकर काम करें तब अन्तःकरण की पूर्णता समझनी चाहिए।

जिस प्रकार हृदय के योग के बिना, भक्ति के बिना, ज्ञान को गोस्वामीजी ने मधुरता-रहित और नीरस कहा है, उसी प्रकार धर्माचरण और सदाचार को भी कड़ुवा कहा है—

सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन-गरुवाई।
बिनु हरि-भजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुवाई॥

उन्होंने स्पष्ट कहा है कि धर्माचरण और शिष्टाचार हृदय के योग के बिना, हर्ष-पुलक के बिना, व्यर्थ हैं—

रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु-पाय।
तुलसी जिनहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥

सारांश यह कि हृदय की ऐसी भावदशा कभी कभी होती है जिसका न धर्म से विरोध होता है न ज्ञान से, और न किसी दूसरी भावदशा से। यही सामंजस्य हमारे यहाँ का मूल मन्त्र है। जिस काव्य में यह सामंजस्य न होगा उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।

धर्म के साथ हृदय के भाव या काव्य की अभिव्यंजना के अविरोध की चर्चा पहले हो चुकी है। अब ज्ञान और भाव, बुद्धि और हृदय, के सामंजस्य के सम्बन्ध में थोड़ा विचार कर लेने की आवश्यकता है। इस सामंजस्य का अभिप्राय यह है कि बुद्धि अपना स्वतन्त्र रूप से ज्ञान-सम्पादन का कार्य करे और हृदय भाव-प्रवर्तन का। एक दूसरे के कार्य में बाधक न हों, हस्तक्षेप न करें। बुद्धि यह न कहने जाय कि हृदय क्या ? वह तो फालतू काम किया करता है। हृदय यह न कहने जाय कि बुद्धि क्या ? वह तो सूखे लक्कड़ चीरा करती है। दोनों एक दूसरे के सहयोगी के रूप में काम करें। बुद्धि देश और काल के बीच हमारे ज्ञान का प्रसार बढ़ाती है। जगत् के अनेक तथ्य ऐसे होते हैं जो हमारी बाह्य इन्द्रियों तथा सामान्य स्थूल बुद्धि को प्रत्यक्ष नहीं होते। बुद्धि अपनी सूक्ष्म क्रिया द्वारा, विशेष मनन और चिन्तन द्वारा, उनका निरूपण करती है

और कवि की प्रतिभा या कल्पना द्वारा उन्हें गोचर और मार्मिक रूप में सामने रखती है। ऐसी दशा में प्रतिभा या कल्पना अनुमान के इशारे पर चलती है और सामान्य रूप से निरूपित तथ्य के बीच से ऐसे विशेष दृश्य की उद्भावना कर लेती है जो मर्मस्पर्शी होता है। नाना भावों के लिए आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं; फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से प्रतिभा या कल्पना उनका भिन्न भिन्न रूपों में समन्वय करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है। आरम्भ में मनुष्य-जाति की चेतन सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गई है त्यों त्यों मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गई है। अब मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। शुद्ध (किसी वाद या सम्प्रदाय के नहीं) विचार और चिन्तन की क्रिया से, वैज्ञानिक विवेचन और अनुसन्धान द्वारा, उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का भी मूर्त्त और सजीव चित्रण—उसका भी इस रूप में प्रत्यक्षीकरण कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कुछ कवियों का काम होगा।

ये परिस्थितियाँ बहुत ही व्यापक होंगी, ये तथ्य न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे। यदि अत्याचार होगा तो रावण के अत्याचार सा लोकव्यापी होगा। हाय होगी तो पृथिवी के एक कोने से दूसरे कोने तक होगी; पर एक हाय करनेवाला दूसरे हाय करनेवाले से इतनी दूर पर होगा कि सम्मिलित हाय की दारुणता केवल बाहरी आँखों की पहुँच के बाहर होगी। यदि प्राणियों की किसी सामान्य प्रवृत्ति का चित्रण होगा तो सामग्री कीटाणुओं की दुनिया तक से लाई जा सकती है। जगत् रूपी घन-चक्कर और गोरखधन्धे की महत्ता और जटिलता से चकित होने की चाह में हम अपनी अन्तर्दृष्टि के सामने एक ओर अणुओं-परमाणुओं और दूसरी ओर ज्योतिष्क पिंडों के भ्रमण-चक्रों तक को

ला सकते हैं। उपर्युक्त सामंजस्य प्रतिष्ठित हो जाने पर ज्ञान-विज्ञान के साथ काव्य का कोई विरोध न दिखाई पड़ेगा।

हमारे यहाँ धर्म की रसात्मक अनुभूति या भक्ति में ज्ञान उक्त सामंजय के कारण कभी बाधक नहीं हुआ और न धर्म ने आग और कुल्हाड़े से ज्ञान-विज्ञान का विरोध किया। हमारे यहाँ 'कर्म' और 'उपासना' के समान 'ज्ञान' भी धर्म का एक अंग बहुत प्राचीन काल से माना गया था। पर सामी मजहबों में अक्ल का दख़ल न होने के कारण पाश्चात्य देशों में ज्ञान-विज्ञान के प्रचार में बहुत बाधा पड़ी थी। बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया द्वारा उपलब्ध ज्ञान के लिए ईसाई मत में जगह न थी। अतः जब ईसाई मत में साम्प्रदायिक दर्शन (Theology) की नीवँ डालने के लिए आर्य जातियों, विशेषतः यूनानियों, के तत्त्वचिन्तकों द्वारा प्रवर्त्तित ज्ञान की बातों को लेने की आवश्यकता हुई तब वे मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान के रूप में तो ली नहीं जा सकती थीं। यहूदी, ईसाई आदि सामी मतों के भीतर तो वे ही बातें ली जा सकती थीं जो किसी पैग़ंबर, पहुँचे हुए रहस्यदर्शी सन्त या सिद्ध को 'हाल', 'मूर्च्छा' अथवा प्रेमोन्माद की दशा में दिव्य आभास के रूप में प्राप्त हुई हों।* प्रेमोन्माद या मूर्च्छा की दशा में रहस्यदर्शी भक्त सन्तों को अन्तःकरण के भीतर 'ईश्वर का समागम' प्राप्त होता था और उस आध्यात्मिक जगत् की कुछ बातें आभास के रूप में उन पर प्रकाशित

* The belief in mystical theology and its connected phenomena was taken over by Christianity from Judaism. Judaism tended to regard God as so transcendent and ineffable that he could deal with creatures only by angelic mediation. It was the fashion to see or write of apocalypes, symbolic visions, angelic ministers.

—Encyclopaedia of Religion and Ethics.

की जाती थीं। ईसा की छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक यूनानी दर्शनों में निरूपित बातें इन्हीं 'आभासों' के रूप में रहस्य-दर्शी सन्त लोग कहा करते थे। *

ईश्वरीय आभास का रूप देने के लिए ये बातें नाना प्रकार की अन्योक्तियों और अध्यवसित रूपकों में लपेट कर विचित्र शब्दों में कही जाती थीं। अतः कबीर आदि रहस्यवादी सन्तों और योरप के रहस्य-वादी कवियों की उक्तियों में जो वैलक्षण्य या विचित्र रूपक-जाल रहता है उसका भी साम्प्रदायिक कारण और इतिहास है। ईसवी सन् ६०४ में सन्त ग्रेगरी (St. Gregory) नामक एक प्रसिद्ध महात्मा हो गए हैं। मूर्च्छा-उन्माद की दशा में ईश्वर का जो समागम होता है उसके सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि साधक ईश्वर को ठीक वैसा ही नहीं देखता जैसा कि वह परमार्थतः है, बल्कि उसका सोपाधि रूप देखता है। हमारे भीतर कल्मष का जो अन्धकार रहता है वह उस शुद्ध ज्योति को ठीक

---

* The fundamental metaphysics on which the doctrine of Christian Mysticism is grounded, is Greek rationalistic metaphysics; formulated by Socrates and his great successors Plato, Aristotle and Plotinus....... God, according to this Greek interpretation, is Absolute Reality with no admixture of matter i. e. with no potentiality or possibility of change. There is, however, something in human soul which is unsundered from the Absolute; something which essentially is that Reality......This intellectual formulation necessarily involves a via negativa—'He is not this, He is not this'—Do.

देखिए किस प्रकार इस उद्धरण में उपनिषद् के ब्रह्मवाद का ही निरूपण है और 'नेति, नेति' वाक्य भी ज्यों का त्यों आया है।

ठीक हम तक पहुँचने नहीं देता। हम उसे साफ़ नहीं देख सकते, वैसे ही देख सकते हैं जैसे बहुत दूर की वस्तु कुछ धुँधली सी दिखाई पड़ती है। इसके उपरान्त ईसा की बारहवीं शताब्दी में सन्त बरनार्ड (St. Bernard) ने यह बताया कि रहस्यदर्शी को 'हाल' या आवेश की दशा में आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि किस ढंग से होती है। उन्होंने कहा कि "जब साधक के हृदय-देश में ईश्वर की भेजी हुई ज्योति की किरण झलक की तरह क्षण मात्र के लिए आ जाती है तब या तो उस परम तेज की चकाचौंध कम करने के लिए अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक कुछ पहुँचाने के योग्य बनाने के लिए, उस प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त पार्थिव जगत् का कुछ अनूठा रूप-विधान (रूपक) सामने आ जाता है। छलावे की तरह भासित हुए उस रूपक को 'छाया-दृश्य' (Phantasmata) कहते हैं। *

इसी 'छाया-दृश्य' के लक्षणों का अनुकरण सामी (Semitic) मजहबों के भीतर चले हुए भक्ति के रहस्यमार्गों में पाया जाता है। सूफ़ियों में इसी परम्परा का निर्वाह शराब, प्याले आदि के रूपकों में

---

* When something from God has momentarily and, as it were, with the swiftness of a flash of light, shed its ray upon the mind in ecstacy of spirit, immediately, whether for the tempering of this too great rediance, or for the sake of imparting it to others, there present themselves certain imaginary likenesses of lower things, suited to the meanings which have been infused from above, by means of which that most pure and brilliant ray is in a manner shaded, and both becomes more bearable to the soul itself and more capable of being communicated.—Do.

मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक (Symbols) से हो गए हैं। निर्गुन-पंथ की बानियों में—विशेषतः कबीरदास की बानी में—जो वेदान्त, हठयोग आदि की साधारण बातों को लेकर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पाई जाती है, वह भी इसी रूढ़ि का निर्वाह है। रहस्यवादी अँगरेज़ कवि ब्लेक (Blake) ने कल्पना को जो ईश्वर का दिव्य साक्षात्कार बताया, उसका भी यही साम्प्रदायिक मूल है। इधर क्रोचे ने जो 'वाद' खड़ा किया है, वह भी इसी का आधुनिक वाग्विस्तार है।

ईसाई भक्तिमार्ग के इस 'छाया-दृश्य' (Phantasmata) वाले प्रवाद का प्रभाव योरप के काव्यक्षेत्र में भी समय समय पर प्रकट होता रहा। सन् १८८५ में फ्रांस के रहस्यात्मक प्रतीकवादियों (Symbolists Decadents) ने कविता का जो ढंग पकड़ा था उसमें उक्त 'छाया-दृश्य' वाली धारणा का पूरा अनुसरण था। इसी से जब उक्त रहस्यवाद का ढंग ब्रह्मोसमाज के भजनों में दिखाई दिया तब पुराने ईसाई भक्तों के उसी 'छाया-दृश्य' (Phantasmata) के अनुकरण के कारण उस ढंग की रचनाओं को 'छायावाद' कहने लगे। यह है हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में प्रचलित 'छायावाद' शब्द का मूल और इतिहास।

प्राचीन आर्य जातियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति नहीं थी—न योरप में, न भारतवर्ष में। प्राचीन यूनानी और रोमन दोनों इससे बचे हुए थे। * तत्त्वज्ञान-संपन्न यूनानी जाति स्वच्छ विचार और संयत आत्मा

---

* Taken all in all, it is evident that mysticism played on inconspicuous role in the religious life of the Hellenes. The Greek genius loved clearness and self-possession too well to seek the divine in mystical darkness and self-surrender.

Perhaps no semi-civilized people was ever more

धारण करती थी। वह परमात्मबोध के लिए शुद्ध चिन्तन-मार्ग को छोड़ रहस्यवाद के अन्धकार में भटकनेवाली नहीं थी! यही स्थिति प्राचीन भारतीय आर्यों की भी थी। यहाँ परमार्थ-तत्त्व-बोध के लिए बुद्धि की स्वाभाविक पद्धति, चिन्तन के विशुद्ध मार्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग स्वीकृत न था। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के प्रवर्त्तक इसी स्वाभाविक बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति द्वारा, शुद्ध अनुमान और विचार की परम्परा द्वारा, ज्ञान की उपलब्धि करते थे। उनके द्वारा प्रवर्तित हमारा 'ज्ञानकांड' मूर्च्छा, स्वप्न या बेहोशी की उपज नहीं है, तत्त्वचिन्तन का फल है। वही हमारे वेदान्त दर्शन के ब्रह्म-स्पर्शी प्रासाद की नींव है। उपनिषदों का तत्त्वज्ञानात्मक (Rationalistic) स्वरूप स्पष्ट है। उनमें बहुत से स्थल संवाद के रूप में हैं, जिनमें शंका-समाधान भी है। जनक की सभा में शास्त्रार्थ के रूप में ब्रह्मवाद की चर्चा होती थी। उपनिषदों के स्फुट विचारों को ही व्यवस्थित शास्त्र के रूप में संकलित करने के लिए बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। *

free from mysticism, in our sense of the term, than the old Romans

—The Psychology of Religious Mysticism
(by James H. Leuba)

* देखिए मैकनिकल (N. Macnicol) की पुस्तक 'Indian Theism from the Vedic to the Muhammadan Period' [इंडियन थेइज्म फ्राम दी वेदिक टु दी मुहम्मडन पीरियड] तथा Encyclopaedia of Religion and Ethiccs. [इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलीजन एंड एथिक्स्] में उनका निबन्ध, जिसके नीचे लिखे हुए वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

It is true of much in the Upanishads that it is seeking to discover the relations of man with the universe rather than his relation with God. It is often concerned with the relation of the knower and the known, rather than with that of the worshipper and God. It gives a metaphysic rather than an ethic or religion.

खेद है कि ईसाई मत से प्रभावित ब्रह्मोसमाज ने उपनिषदों का पल्ला पकड़कर उन्हें रहस्यवादी रूप देने का प्रयत्न किया। बहुत से पाश्चात्य लेखकों ने बड़ी खुशी से उन्हें इस रूप में ग्रहण किया और उपनिषदों के ज्ञान को रहस्यवाद की कोटि में रखा। बात यह है कि उस कोटि में जाने से उनका तात्त्विक मूल्य घट जाता है और प्राचीन भारतीय आर्यों की तत्त्वज्ञानसम्पन्नता कुछ ओट में पड़ जाती है और यूनानियों की सामने दिखाई पड़ती है। उपनिषद् यदि रहस्यदर्शियों के स्वप्न या आभास हैं तब तो प्राचीन भारतीय भी सभ्यता की उसी सीढ़ी पर थे जिसपर प्राचीन यहूदी। उपनिषदों को रहस्यवाद कहने का आधार केवल यही है कि उनकी कुछ बातें उपमाओं या लक्षणाओं के द्वारा कुछ अनूठे ढंग से कही हुई मिलती हैं। बात यह है कि उस प्राचीन काल में दार्शनिक विवेचन को व्यक्त करने की व्यवस्थित शैली नहीं निकली थी। चिन्तन करते करते कभी कभी ऋषि भावोन्मुख भी हो जाते थे और अपनी बात अनूठी उक्ति के रूप में कह देते थे।

ज्ञान जब प्राप्त होगा तब शुद्ध बुद्धि की क्रिया से ही। कल्पना, स्वप्न, भावोन्माद आदि द्वारा किसी उच्च कोटि का ज्ञान तो दूर की बात है साधारण बातें भी नहीं जानी जा सकतीं। न हम कान से देख सकते हैं, न नाक से सुन सकते हैं। पर प्रेमलक्षणा भक्ति क्यों और किस प्रकार ज्ञान का भी एक रहस्यमय साधन सामी मजहबों में मानी गई, यह हम अभी दिखा आए हैं। रहस्यवादी जो बातें कहते हैं वे तत्त्वज्ञ दार्शनिकों द्वारा निश्चित की हुई होती हैं, आसमान से टपकी या आत्मा से उठी नहीं होतीं। उन्हीं बातों को सुनकर या इधर उधर से लेकर वे उन पर कल्पना का रंग चढ़ाते और उन्हें अनूठे रूपकों और अन्योक्तियों में कहा करते हैं।* कोई कह सकता है कि आज तक किसी पहुँचे हुए

* It is not necessary to conclude that 'Oracular communication' or mysterious information, or ideas with novelty of content, come into the world through the secret door of mystical openings. 'Ideas' and

रहस्यवादी ने कोई एक भी बात ऐसी कही है जो पहले से प्रचलित न चली आती हो ? कबीर की बानी में ज्ञान की कोई एक नूतन कणिका भी कोई दिखा सकता है ? ज्ञान के क्षेत्र में रहस्यवाद का कोई मूल्य नहीं है। रहस्यवाद से किसी नए तथ्य की, नए ज्ञान की, उपलब्धि नहीं हो सकती, यह बात रहस्यवाद पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करनेवालों ने लिखी है।*

सामी मतों के भक्ति-मार्गों में ज्ञान-पक्ष यद्यपि लिया गया है आर्य जाति के तत्त्वचिन्तकों से, पर बताया जाता है ऊपर लिखे रहस्यात्मक ढंग से आभास-रूप में प्राप्त। इसी से पाश्चात्य लेखक भारतीय भक्ति-मार्ग को भी रहस्यवाद के भीतर घसीटा करते हैं। पर यह उनका शुद्ध भ्रम है, यह मैं आगे दिखाऊँगा। सामी मतों की भक्ति-साधना में दाम्पत्य-वासना (Sex-instinct) का सहारा लिया गया जिससे 'माधुर्य-भाव' का विकास उनमें विशेष दिखाई पड़ता है। ईसाइयों की धर्मपुस्तक में एक जगह आया है कि "जिस प्रकार दूल्हा दुलहिन के साथ रमण करता है, इसी प्रकार ईश्वर तुझमें रमण करे।" इसी को लेकर 'स्वर्गीय दूल्हा' (Heavenly Bridegroom) की भावना चली। जिस प्रकार हमारे यहाँ के हठयोगियों ने मनुष्य के भीतर चक्रों, कमलों, मणिपूर इत्यादि की कल्पना की है, उसी प्रकार साधक ईसाईयों ने उस स्वर्गीय दूल्हे के साथ बिहार करने के लिए अन्तर्देश में कई प्रकार के रंगमहल या कोठरियाँ कायम की थीं।

'communications' and information prove always, when they are examined, to have a historical background. They show the marks of group experience, and they do not drop ready-made into the world from some other region.

Rufus. M. Jones
(Encyclopaedia of Religion and Ethics.)

* जोन्स (R. M. Jones) लिखते हैं—The mystical experience consists in leaps of insight through heightened

ईसा की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में सन्त बरनार्ड (St. Bernard) नाम के जो प्रसिद्ध भक्त हो गए हैं, उन्होंने दूल्हे के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश का इस प्रकार वर्णन किया है— "यद्यपि वे (ईश्वर) कई बार मेरे भीतर आए पर मैंने न जाना कि कब आए। आ जाने पर कभी कभी मुझे उनकी आहट मिली है, उनके विद्यमान होने का स्मरण भी मुझे है, वे आनेवाले हैं इसका आभास भी मुझे कभी कभी पहले से मिला है, पर वे कब भीतर आए और कब बाहर गए, इसका पता मुझे कभी न चला।"

अब इसी प्रकार की रचना की झलक आप आज इस बीसवीं शताब्दी में भी 'गीतांजलि', 'साधना' तथा मासिक पत्रों में समय समय पर निकलनेवाले गद्य-काव्यों में स्पष्ट देख सकते हैं। कबीर की 'सुन्नि महलिया' भी सामी रहस्यवाद की ओर से आई है।

भारतवर्ष के वैष्णव धर्म में भी जैसे सेव्य-सेवक आदि कई भावों से उपासना मानी गई थी वैसे ही गोपियों के कृष्ण-प्रेम को लेकर 'माधुर्य-भाव' की उपासना भी मानी गई थी; पर उसका स्वरूप केवल भावात्मक था, उसमें न तो भीतर महलों आदि की कल्पना थी, न मूर्च्छा, उन्माद आदि लक्षण। पीछे मुसल्मानी शासन-काल में कुछ कृष्णभक्तों पर—जैसे, चैतन्य महाप्रभु, मीरा, नागरीदास पर—सूफियों का प्रभाव पड़ा। भारतवर्ष के भीतर माधुर्य-भाव का ग्रहण प्राचीन काल में दक्षिण में हुआ। बड़े बड़े मन्दिरों में जो देवदासियाँ रहा करती थीं, इसका प्रवर्त्तन पहले उन्हीं के बीच जान पड़ता है। माता-पिता लड़कियों को मन्दिर में चढ़ा आते थे, जहाँ उनका विवाह ठाकुरजी के साथ हो

---

life, in an intensifying of vision, through the fusing of all the deeplying powers of intellect, emotions and will, and in a corresponding surge of conviction, through the dynamic integration of personality, rather than in the gift of new knowledge-facts—Do.

जाता था। वे ही देवदासियाँ हो जाती थीं। उनके लिए मन्दिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पति-रूप में विधेय थी ; इन देवदासियों में से कुछ उच्च कोटि की भक्तिनें निकल आती थीं।

दक्षिण में अन्दाल इसी प्रकार की भक्तिन थी, जिसका जन्म वि० सं० ७७३ के आस-पास हुआ था। यह बहुत छोटी अवस्था में किसी साधु को एक पेड़ के नीचे मिली थी। वह साधु भगवान् का स्वप्न पाकर इसे विवाह के वस्त्र पहनाकर श्रीरंगजी के मन्दिर में छोड़ आया था। अन्दाल के पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावइ' नामक पुस्तक में अब तक मिलते हैं। अन्दाल एक स्थान पर कहती है—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।" इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें रहस्य का समावेश अवश्य हो जायगा। भारतीय भक्ति का मूल रूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य-भाव' का अधिक प्रचार न हुआ। पीछे मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखादेखी इस भाव की ओर कुछ कृष्णभक्त रहस्यात्मक ढंग से प्रवृत्त हुए।

भारतवर्ष में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्रकृत पद्धति और प्रेम की प्रकृत पद्धति स्वीकृत थी ; अतः न ज्ञान के क्षेत्र में और न भगवत्प्रेम के क्षेत्र में रहस्यवाद की आवश्यकता हुई। साधनात्मक और क्रियात्मक रहस्यवाद का अलबत योग, तन्त्र और रसायन के रूप में विकास हुआ। यहाँ ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और योग-मार्ग तीनों अलग अलग रहे हैं। इस स्पष्ट विभाग के कारण भारतीय परम्परा का भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है, न अलौकिक सिद्धि या रहस्यदर्शन का। ज्ञान के अधिकारी तर्कबुद्धि-सम्पन्न, चिन्तनशील दार्शनिक ही माने जाते हैं। तत्त्वज्ञान की झलक के लिए शुद्ध बुद्धि के अतिरिक्त और कोई दूसरी खिड़की नहीं मानी जाती। भारतीय भक्त हृदय की उसी पद्धति से भगवान् से प्रेम करता है, जिस पद्धति से पुत्र-कलत्र से। इस प्रेम के लिए कोई अप्राकृतिक पद्धति अपेक्षित नहीं। भक्ति की अनुभूति भी 'भक्तिरस' कही जाती है। रस की अनुभूति एक प्राकृतिक या स्वाभाविक अनुभूति

है। पर रहस्यवादी की ईश्वर-समागमवाली दशा या तो योगियों की तुरीयावस्था अथवा चित्त-विक्षेप के रूप में मानी जाती है—जैसी किसी भूत या देवता के सिर आने पर होती है। इस दशा पर आस्था सभ्यता की आदिम अवस्था का संस्कार है जो किसी न किसी रूप में अब तक चला चलता है। उसी के कारण जैसा भूत-प्रेत, कुलदेवता आदि का सिर पर आना वैसा हो यह ईश्वर का सिर पर आना समझा जाता है। हमारे यहाँ के भक्ति-मार्ग में यह बिल्कुल नहीं है। आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर न कभी राम कृष्ण आए, न ब्रह्म—हाँ, ब्रह्म-राक्षस अलबत आते हैं। हनुमान् जी भी कभी कभी भक्त-मंडली से उछलकर किसी सेवक के सिर आ जाया करते हैं।

भारतीय परम्परा के भक्त का प्रेम-मार्ग सीधा-सादा और स्वाभाविक है, जिस पर चलना सब जानते हैं, चाहे चलें न। वह ऐसा नहीं जिसे कोई बिरला ही जानता हो या पा सकता हो। वह तो संसार में सबके लिए ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माह॥ —तुलसी

जिस हृदय से भक्ति की जाती है, वह सबके पास है। सरलता इस मार्ग का नित्य लक्षण है—मन की सरलता, बचन की सरलता और कर्म की सरलता—

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर-प्रेम-प्रसूति॥

भारतीय परम्परा के सच्चे भक्त में दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति नहीं होती। उसे यह प्रकट करना नहीं रहता कि जो बातें मैं जानता हूँ उसे कोई बिरला ही समझ सकता है, इससे अपनी वाणी को अटपटी और रहस्यमयी बनाने की आवश्यकता उसे कभी नहीं होती। वह सीधी-सादी सामान्य बात को भी रूपकों में लपेट कर पहेली बनाने और असम्बद्धता के साथ कहने नहीं जाता। बात यह है कि अपना प्रेम वह किसी अज्ञात के प्रति नहीं बताता। उसका उपास्य ज्ञात होता है। उसके निकट ईश्वर

ज्ञात और अज्ञात दोनों है। जितना अज्ञात है उसे तो वह परमार्थान्वेषी दार्शनिकों के चिन्तन के लिए छोड़ देता है और जितना ज्ञात है उसी को लेकर वह प्रेम में लीन रहता है। ज्ञात पक्ष में यह सारा जगत् ब्रह्म का व्यक्त प्रसार है जिसके भीतर रक्षण और रंजन की नित्य कला भासमान रहती है। बाहर जगत् के बीच इस कला का दर्शन भक्ति का पक्ष है। 'अपने मन के भीतर ढूँढ़ना' यह योग का पक्ष है। बाहर जगत् में जहाँ रक्षण और रंजन की यह कला भक्त को दिखाई पड़ती है वहाँ वह सिर झुकाता है। श्रीमद्भागवत में इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हम पाते हैं। व्रज के गोप इन्द्र की पूजा किया करते थे। श्रीकृष्ण ने नन्द से कहा कि इससे अच्छा तो यह है कि हम इस गोवर्द्धन पर्वत की पूजा करें। जो साक्षात् या सीधे पालन-पोषण रक्षण-रंजन करता दिखाई दे वही देवता है—

तस्मात्सम्पूजयेत्कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् ।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥ [—भागवत, १०-२४-१८]
तस्माद्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः ।
य इन्द्रयागसमारम्भास्तैरयं साध्यतां मखः ॥ —भाग० १०-२४-२५

यही 'अंजस पूजा'—सीधे उसकी पूजा जो प्रत्यक्ष रक्षक और प्रत्यक्ष रंजक है—भारतीय भक्ति-भावना का प्रधान स्वरूप है। इसी से इस प्रत्यक्ष बाह्य जगत् के बीच राम-कृष्ण के रूप में अपनी रक्षण-रंजन-कला का प्रकाश करनेवाले भगवान् के व्यक्त रूप को लेकर भारतीय भक्ति-मार्ग सच्ची भावुकता के साथ चला। यदि किसी पर्वत से, किसी नदी से, किसी वृक्ष से, किसी पशु से—प्रकृति के छोटे-बड़े किसी रूप से—लोक का उपकार है तो उसमें स्थित हमारी पूज्य बुद्धि भगवान् ही के प्रति समझनी चाहिए। इस प्रकार व्यक्त और प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य बुद्धि हमारे भक्ति-मार्ग का वह प्रधान अवयव है जो उसे उन मार्गों से अलग करता है जो ऐसे प्रत्यक्ष रूपों के प्रति पूज्य भाव रखना पाप कहते हैं।

सारांश यह है कि हमारे यहाँ का (सगुण) भक्ति-काव्य भी ब्रह्म के अज्ञात और अव्यक्त स्वरूप को आध्यात्मिक आभास द्वारा बताने का

दावा करता हुआ नहीं चला है। वह इसी व्यक्त जगत् और जीवन के बीच भगवान् की कला का दर्शन कराकर भावमग्न करना चाहता है। भक्ति-मार्ग के सम्बन्ध में यहाँ इतना निवेदन करने का मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की रचनाएँ भी रहस्यात्मक स्वप्न, आभास आदि की दृष्टि से न देखी जायँ, उनके द्वारा गाए हुए चरित्र भी अन्योक्ति, रूपक आदि न बताए जायँ और उनसे तरह तरह के आध्यात्मिक अर्थ निकालने की बेजा हरकत न की जाय। भक्ति-काव्य भी काव्य ही है; और काव्य की तह में, जैसा कि मैं कहता आ रहा हूँ, इसी जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ छिपी रहती हैं।

कविता के सम्बन्ध में मेरी धारणा बराबर से यही रही है कि वह एक ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के शुद्ध रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह, तथा उसके हृदय का प्रसार और परिष्कार होता है। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को अपने व्यक्तिगत योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त-हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है वही कविता है। कविता के साथ 'आनन्द' शब्द जुड़ा रहने से उसे विलास की एक सामग्री न समझना चाहिए। जो केवल अपने विलास या सुख-भोग की सामग्री ही ढूँढ़ा करते हैं उनमें उस रागात्मक 'सत्त्व' की कमी है जिसके द्वारा व्यक्त सत्ता मात्र के साथ मनुष्य अपने हृदय के सब भावों का—केवल प्रेम, हर्ष, आश्चर्य आदि का ही नहीं करुणा क्रोध, जुगुप्सा आदि का भी—

ठीक और उपयुक्त सम्बन्ध घटित कर लेता है। इसी से हमारे यहाँ 'सत्त्वोद्रेक' के बिना सच्ची रसानुभूति नहीं मानी गई है।

चिर-प्रतिष्ठित काव्य के प्रकृत स्वरूप के सम्बन्ध में इतना कहकर अब मैं क्रोचे के 'अभिव्यजंनावाद' की उन ६ बातों को लेता हूँ जो इस स्वरूप के विरुद्ध पड़ती हैं और जिनका प्रभाव इधर-उधर हमारे वर्त्तमान साहित्य-क्षेत्र में भी दिखाई पड़ने लगा है।

(१) प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत रूप-विधान में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग।

उक्त वाद के अनुसार तो काव्य में प्रस्तुत पक्ष कुछ होता ही नहीं। प्रस्तुत पक्ष तो तब होगा जब काव्य की अभिव्यजंना का जगत् या जीवन की बातों से कोई सम्बन्ध होगा। जब कि किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं, जब कि अभिव्यजंना अध्यात्म-जगत् से उठी हुई वस्तु है, तब कैसा प्रस्तुत? क्रोचे के अनुसार काव्य में जीवन की कुछ वस्तुएँ या बातें जो ले ली जाया करती हैं, वे केवल मसाले के रूप में। अब, ये ही वस्तुएँ या बातें साहित्य में 'प्रस्तुत' कहलाती हैं। अतः जब इन वस्तुओं या बातों के प्रति किसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करना काव्य का उद्देश्य ही नहीं तब इनको ऐसे मार्मिक रूप में रखने की आवश्यकता ही क्या जिससे उनके प्रति कोई भाव जगे। प्रस्तुत कहलानेवाली जीवन की वस्तुओं या बातों का तो सहारा मात्र कल्पना की एक नूतन सृष्टि खड़ी करने में लिया जाता है। अतः कवि की प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग प्रस्तुत के मार्मिक प्रत्यक्षीकरण में नहीं उससे अलग विचित्र या रमणीय रूप-विधान में है। प्रस्तुत से अलग रूप-विधान ही अप्रस्तुत या उपमान कहलाता है। उपर्युक्त धारणा अंगरेज़ी के समीक्षा-क्षेत्र में इतना जोर पकड़ गई है कि 'रूप-विधान' (Imagery) शब्द का प्रयोग अप्रस्तुत रूप-विधान के लिए ही होता है। श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर का काव्य के अलंकारों पर एक लेख मैंने कहीं देखा था जिसमें रूप-विधान के सम्बन्ध में यही धारणा स्पष्ट लक्षित होती थी। उनके 'रूप और अरूप' नामक प्रबन्ध के अन्तर्गत इस कथन में भी इसी का आभास पाया जाता है—

"मनुष्य की साहित्य-शिल्पकला में हृदय का भाव रूप में धृत जरूर होता है, पर रूप में बद्ध नहीं होता। इसलिए वह केवल नए नए रूप के प्रवाह की सृष्टि करता है, इसी लिए प्रतिभा को नवनवोन्मेषिणी बुद्धि कहते हैं।" इसके आगे उन्होंने यह दृष्टान्त दिया है—"मान लिया जाय कि पूर्णिमा की शुभ्र रात्रि का सौन्दर्य देखकर किसी कवि ने वर्णन किया कि मानो सुरलोक के नीलकान्त मणिमय प्रांगण में सुरांगनाएँ नन्दन की नवमल्लिका की फूलशय्या।"

यह उद्धरण मैंने केवल यह दिखाने के लिए दिया है कि ठाकुर महोदय भी प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग अप्रस्तुत विधान में ही समझते हैं। उनके उपर्युक्त वचन क्रोचे की इस बात का समर्थन नहीं करते हैं कि काव्य में न कोई प्रस्तुत पक्ष होता है, न उसके प्रति हृदय की कोई अनुभूति। यहाँ उन्होंने स्पष्ट रीति से प्रस्तुत वस्तु 'रात्रि' में सौन्दर्य माना है, और उसके प्रति हृदय में प्रिय भाव का उदय कहा है। अतः जो लोग विलायती समीक्षाओं में से इधर-उधर के ऐसे वाक्य लेकर कि 'काव्य विषय क्या ?', 'काव्य में अर्थ क्या ?" अपनी जानकारी प्रकट किया करते हैं उन्हें ठाकुर महोदय के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए।

यहाँ मेरा अभिप्राय केवल इस धारणा को असंगत सिद्ध करने का है कि काव्य में प्रतिभा या कल्पना का काम केवल ढूँढ़ ढूँढ़ कर, या अपनी अन्तरात्मा में से निकाल निकाल कर, तरह तरह के अप्रस्तुत रूपों का विधान करना ही है। यह तो हमारे यहाँ का वही पुराना 'अलंकारवाद' ही हुआ जो थोड़ा रूप बदलकर और अलंकार शब्द को हटाकर प्रकट हुआ है। क्या रूप बदला है, यह मैं अलंकार के प्रसंग में सूचित करूँगा। जो अप्रस्तुत रूप-विधान या उपमानों की योजना में ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग और काव्यत्व मानेंगे उनके निकट वाल्मीकि का हेमन्तवर्णन, कालिदास का मेघदूत, वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के सीधे-सादे रूप में चित्रित बिना तड़क-भड़कवाले सामान्य ग्रामीण दृश्य काव्य ही न ठहरेंगे। मेघदूत न कल्पना की कोरी उड़ान है, न कला की विचित्रता। वह है प्रचीन भारत के सबसे भावुक हृदय

की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेमदृष्टि। क्या 'त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः, त्वासारूढं पवनपदवीम्' 'विश्रान्तस्सन् व्रज नगनदीतीर-जातानि सिञ्चन्' इत्यादि प्रस्तुत रूप-विधान काव्य नहीं ? जिन्हें इनमें काव्य न दिखाई पड़े उनके सम्बन्ध में समझना चाहिए कि वे बरातों में निकलनेवाली कागज की फुलवारी को काव्य समझे बैठे हैं। वे केवल तमाशबीन हैं।

प्रस्तुत पक्ष का रूप-विधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है। भाव की प्रेरणा से नाना रूप-संस्कार जग पड़ते हैं जिनका अपनी प्रतिभा या कल्पना द्वारा समन्वय करके कवि प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करता है। काव्य में प्रतिभा या कल्पना का मैं यह पहला काम समझता हूँ। जो नाना प्रकार के अप्रस्तुत उपमान जोड़ने में ही काव्य समझेंगे उनका हृदय पर प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का कोई मार्मिक प्रभाव न रह जायगा। वे मार्मिक से मार्मिक प्रत्यक्ष दृश्य के सामने वार्निश किए हुए काठ के कुंदे या गढ़ी हुई पत्थर की मूर्ति के समान खड़े रह जायँगे। ऐसे लोगों के द्वारा काव्य का विभाव-पक्ष ही ध्वस्त हो जायगा।

अप्रस्तुत-योजना पर ही अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति आज-कल की नई रंगत की कविताओं में भी दिखाई पड़ रही है। पं० सुमित्रानन्दन पन्त ऐसे कवियों पर भी, जो जगत् और जीवन की मार्मिक अनुभूतियों से सम्पन्न हैं, 'अभिव्यंजनावाद' से निकली हुई इस प्रवृत्ति का प्रभाव कहीं कहीं अधिक मात्रा में दिखाई पड़ जाता है, जैसे, उनकी 'छाया' नाम की कविता में।

(२) जीवन के किसी मार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़, केवल अभिव्यंजना या उक्ति में वैलक्षण्य लाने का प्रयास।

क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद' सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' है। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी कुन्तक नाम के एक आचार्य 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' कहकर उठे थे। उनकी दृष्टि में भी

'उक्ति की वक्रता' ही काव्य है। वक्रता काव्य में अपेक्षित अवश्य होती है, पर वहीं तक जहाँ तक उससे हृदय की किसी अनुभूति से सम्बन्ध होता है। यों ही बोध मात्र कराने के लिए जिस रूप में बात कही जाती है उसी रूप में रखने से भावानुभूति नहीं जगती। बात को ऐसे रूप में रखना पड़ता है जो भाव जगाने में समर्थ हो। इसी से कहा गया है कि 'इतिवृत्तमात्रनिर्वाहेण नात्मपदलाभः।' इस रूप में बात बिना अलंकार के, बिना किसी प्रकार की अप्रस्तुत-योजना के, भी कही जा सकती है। इसी से 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में अलंकार काव्य का कोई नित्य अंग नहीं माना गया है। प्रस्तुत बातें ज्यों की त्यों सादे रूप में भी आकर भाव की बहुत अच्छी और स्वाभाविक व्यंजना कर देती हैं, जैसे, ठाकुर कवि का यह सवैया लीजिए—

> वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै,
> बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै।
> ठाकुर या मन को परतीति है जौ पै सनेह न मानति ह्वैहै,
> आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वैहै॥

इसमें अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आतुर किसी नए प्रेमी के चित्त के 'वितर्क' की कैसी सीधी-सादी व्यंजना है। इसमें आई हुई बातें प्रस्तुत होने पर भी 'इतिवृत्त मात्र' की दृष्टि से फालतू हैं। 'इतिवृत्त' का मतलब है 'इतनी ही तो बात है'। 'इतनी ही तो बात है' कहनेवाला व्यर्थ वे सब बातें न कहने जायगा जो सवैये में हैं।

भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्ति और स्वच्छन्द गति के लिए, काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं। 'खड़ी बोली' की कविता जिस रूखी-सूखी चेष्टा के साथ खड़ी हुई थी, उसमें काव्य की झलक बहुत कम थी। खड़ी बोली की कविताओं में उपमा-रूपक आदि के ढाँचे तो रहते थे पर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की विमुक्त स्वच्छन्द गति दिखाई नहीं देती थी। 'अभिव्यंजनावाद' के कारण योरप के काव्य-क्षेत्र में उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति जो हिन्दी के वर्तमान काव्यक्षेत्र में आई उससे

खड़ी बोली की कविता की व्यंजना-प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छन्दता आई। लक्षणाओं के अधिक प्रचार से काव्यभाषा की व्यंजकता अवश्य बढ़ रही है। दूसरी अच्छी बात यह हुई है कि अप्रस्तुतों या उपमानों के रखने में केवल सादृश्य-साधर्म्य पर दृष्टि न रहकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभाव पर अधिक रहने लगी है।

पर यह सब शुभ लक्षण देखकर जितना सन्तोष होता है उससे शायद ही कुछ कम खेद यह देखकर होता है कि अधिकतर लोग केवल वक्रता या अभिव्यंजना की विचित्रता को ही सब कुछ मानने लगे हैं। जीवन की अनेक मार्मिक दशाओं, जगत् की अनेक मार्मिक परिस्थितियों के उद्घाटन द्वारा भावों में मग्न करने में कवियों की वाणी तत्पर नहीं दिखाई दे रही है। अतः वर्त्तमान रचनाओं का बहुत सा भाग जीवन से विच्छिन्न सा दिखाई पड़ता है।

(३) जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को प्रत्यक्ष करनेवाले प्रबन्ध-काव्यों की ओर से उदासीनता और मुक्तकों—विशेषतः प्रेमोद्गारपूर्ण प्रगीत मुक्तकों (Lyrics)—की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।

यह योरप के वर्त्तमान काव्य-क्षेत्र की बहुत व्यापक क्या सामान्य प्रवृत्ति है जिसके कारण वहाँ बहुत दिनों से सफल महाकाव्य के दर्शन दुर्लभ हो गए हैं। मिल्टन, दांते और गेटे की रचनाएँ ही अन्तिम के समान दिखाई पड़ रही हैं। शेली के समय से लेकर अब तक महाकाव्य के लिए प्रयत्न तो होते रहे पर सफल नहीं। बात यह है कि प्रकृति अन्तर्वृत्तिनिरूपक (Subjective) प्रगीत मुक्तकों की ओर ही अधिक हो जाने के कारण बाह्यार्थनिरूपिणी (Objective) प्रतिभा का ह्रास हो गया और छोटी छोटी फुटकल रचनाओं के अभ्यास के कारण किसी सुव्यवस्थित, भव्य और विशाल आयोजन की क्षमता जाती रही। इस सम्बन्ध में डाक्टर केर (W. P. Ker) की बात ध्यान देने योग्य है। योरप में महाकाव्य के ह्रास के कारणों का विचार करते हुए वे एक बड़ा भारी कारण उपन्यासों का चलन बताते हैं। उपन्यासों का बहुत कुछ आकर्षण संवादों में—बातचीत के रंग-ढंग में होता है। इस बात में

पद्य-बद्ध कथाकाव्य उनका सामना नहीं कर सकते। पर आधुनिक प्रबन्ध-काव्यों के प्रयासी प्रायः संवादों को ही, आकर्षण की वस्तु समझ, प्रधानता दिया करते हैं। कथाप्रवाह को मार्मिक बनाने का प्रयत्न वे नहीं करते।*

इधर पन्द्रह वर्ष के भीतर के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र को लें तो डाक्टर केर की बात बहुत कुछ ठीक घटती पाई जायगी। बात यह है कि यदि एक जगह की प्रवृत्ति दूसरी जगह पहुँचाई जायगी तो उसके साथ लगी हुई भलाई या बुराई भी। मैथिलीशरणजी गुप्त के 'साकेत' को लीजिए जिसे काव्य की दृष्टि से मैं खड़ी बोली की अत्यन्त प्रौढ़ रचना मानता हूँ, उसमें पुराने ढाँचे का शब्द-कौशलपूर्ण चमत्कार और नए ढंग की अभिव्यंजना का वैचित्र्य दोनों प्रचुर परिमाण में पाए जाते हैं। दोनों का सुन्दर मेल उस काव्य की विशेषता है। पर खेद है। कि एक बड़ा प्रबन्ध-काव्य या महाकाव्य लिखने की इच्छा उन्हें उस समय हुई जब उनकी प्रवृत्ति देखा-देखी अंगरेज़ी ढंग के फुटकल प्रगीत काव्यों (Lyrics) की ओर हो चुकी थी। इससे प्रबन्ध-काव्य के अवयवों के—जीवन की विविध दशाएँ सामने लानेवाले घटनाचक्र, वस्तुवर्णन, संवाद और भावव्यंजना के—ठीक ठीक परिमाण की व्यवस्था वे न रख सके। संवाद और भाव-व्यंजना, इन्हीं दो अवयवों की प्रधानता हो गई। दो सर्ग तो उर्मिला के वियोग की नाना दशाओं की व्यंजना में ही लग गए। कथा-प्रवाह या सम्बन्ध-निर्वाह बहुत कम पाया जाता है।

---

* Most of the great successes in prose-narrative are won through dialogue, not through pure narrative. Here verse cannot compete. * * * Narrative poetry must rely far more than the novel on pure narrative. Narrative poetry having to rely greatly upon pure narrative must give up most of the openings used so finely by the great prose story-tellers.

(W. P. Ker.)

कथा-प्रवाह या सम्बन्ध-निर्वाह प्रबन्ध-काव्य की पहली वस्तु है, जैसा कि माघ कवि ने कहा है—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥

पर डा० केर ने महाकाव्य रचने की असफलता का कारण जो उपन्यासों का प्रचार बताया है, वह ठीक तो है, पर अकेला नहीं। इस असफलता का मुख्य कारण है 'कलावाद', अभिव्यंजनावाद' आदि के प्रभाव से प्रगीत मुक्तकों की ओर ही कवियों का टूटा पड़ना। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी प्रबन्ध-काव्यों की रचना भक्तिकाल के भीतर ही विशद रूप में मिलती है। रीतिकाल प्रकीर्णकों या मुक्तकों का काल था। तब से बराबर हिन्दी में भी फुटकल रचनाओं के अभ्यासी कवि चले आए, इससे अच्छे प्रबन्ध-काव्य न बन सके।

पहले रीतिकाल की फुटकल रचनाओं के अभ्यास से प्रबन्ध-काव्य का मार्ग रुका रहा, अब आजकल प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की योरपीय प्रवृत्ति के अनुकरण से उसके मार्ग में बाधा पड़ रही है। उपन्यासों के प्रचार को मैं वैसा बाधक नहीं समझता।

(४) असीम, अनन्त ऐसे शब्दों द्वारा रचनाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति।

जो रचनाएँ वस्तुतः रहस्यवाद को लेकर चलें उनमें तो आध्यात्मिक पुट आवश्यक ही है। उनको एक साम्प्रदायिक परम्परा के अन्तर्गत मानकर अलग ही छोड़ देना चाहिए। पर नए ढंग की जितनी कविताएँ बनें सबके भीतर कहीं न कहीं असीम, अनन्त को सम्पुटित करने की मैं कोई जरूरत नहीं समझता। मैं कई बार कह चुका हूँ कि आज-कल जितनी कविताएँ 'छायावाद' की कही जाती हैं उनमें से अधिकांश का 'रहस्यवाद' से कोई सम्बन्ध ही नहीं। 'छायावाद' शब्द किस प्रकार रहस्यवाद-सूचक है, यह मैं दिखा आया हूँ। अतः नई रंगत की कविता के लिए मैं यह शब्द ठीक नहीं समझता। श्रीयुत पं० सुमित्रानन्दन पन्त की प्रायः सब

कविताएँ जगत् और जीवन के किसी न किसी मार्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखती हैं। श्री जयशंकर प्रसादजी की वाणी भी या तो वेदना की विवृति में अथवा सुख-सौन्दर्य और रमणीयता की अनुभूति उत्पन्न करने में लीन देखी जाती है। इधर उधर 'स्वप्न, छाया, मद-मदिर' आदि रहस्यवाद के कुछ रूढ़ शब्दों और कहीं कहीं अनन्त-असीम की ओर संकेतों के रहने से ही कविता रहस्यवाद की नहीं हो जाती। नई पद्धति की कविताओं की सामान्य आकर्षक विशेषता व्यंजना की प्रणाली में है। यह प्रणाली हमारे कुछ नवीन कुशल कवियों के हाथ में स्वतन्त्र विकास कर रही है। अतः अब उस पर से 'छायावाद' के नाम की विलायती-बँगला मुहर हट जानी चाहिए।

रवीन्द्र बाबू यदि अनन्त की ओर ताका करें तो यह आवश्यकता नहीं कि सबकी टकटकी उसी ओर लगे। उनको तो मैं एक बड़ा भारी आलंकारिक मानता हूँ। किसी बात को जितने अधिक विलक्षण और व्यंजक शब्दों में वे लपेट सकते हैं, दूसरा नहीं। उनके लाए हुए अप्रस्तुत रूप अद्भुत दीप्ति के साथ अर्थ और भाव का प्रकाश करते हैं। इतना होने पर भी उनकी जिन रचनाओं में 'आध्यात्मिक' अदा विशेष रहती है उनकी तह में अनुभूति की कोई नवीन भूमि नहीं मिलती। वही रूप की क्षणभंगुरता, ससीम का असीम के साथ मिलन आदि दिखाई पड़ता है। पर जो कविताएँ जगत् या जीवन की किसी मार्मिक वस्तु या तथ्य को लेकर अथवा लोकवाद के साथ समन्वित होकर चली हैं वे अत्यन्त हृदयग्राहिणी हैं। उदाहरण के लिए 'ताजमहल' को लक्ष्य करके लिखी हुई कविता लीजिए, जिसमें कवि शाहजहाँ को इस प्रकार सम्बोधित करके—

> हे सम्राट् कवि, एइ तव हृदयेर छवि,
> एइ तव नव मेघदूत, अपूर्व अद्भुत।

कहता है—"हीरा, मोती और मणियों की घटा, शून्य दिगन्त के इन्द्रजाल इन्द्रधनुष की छटा की भाँति, यदि लुप्त हो जाती है तो हो जाय,

केवल एक बूँद आँखों का आँसू—यह शुभ्र, समुज्ज्वल ताजमहल—काल के कपोल-प्रान्त पर बचा रहे।"

कहने का तात्पर्य यह है कि वर्त्तमान काव्य और समीक्षा दोनों के क्षेत्र में 'आध्यात्मिक' शब्द भी बहुत से निरर्थक वाग्जाल का कारण हो रहा है। इसके कारण अनुभूति की सचाई (Sincerty) की भी कम परवाह की जा रही है।

(५) 'कला' शब्द के कारण काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में शिल्प-वाली, बेल-बूटे और नक्काशीवाली, हलकी धारणा।

इसके सम्बन्ध में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। यह देख कर खेद होता है कि इस हलकी धारणा का प्रचार बढ़ता जाता है। कारण यह है कि बड़े लोगों की ओर से भी बीच बीच में इसे सहारा मिलता जाता है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर पर भी इस धारणा का पूरा प्रभाव जान पड़ता है। वे भी कभी तो शिल्प के अन्तर्गत काव्य को भी ले लेते हैं और कभी शिल्प-साहित्य एक साँस में कह जाते हैं। मैं फिर भी जोर के साथ कहता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है तो उसका 'पीछा' इस 'कला' शब्द से जहाँ तक शीघ्र छुड़ाया जाय अच्छा।

(अपने भाषण के आरम्भ ही में मैंने अपनी अयोग्यता प्रमाणित करने का वचन दिया था। कम से कम मैंने इतना तो अवश्य सिद्ध कर दिया कि मेरा इस परिषद् का सभासद चुना जाना 'कला की दृष्टि से' अनुपयुक्त हुआ।)

आज-कल की नई रचनाओं में कुछ दूर तक चलनेवाली संश्लिष्ट रूप-योजना तथा भावनाओं की अन्विति (Unity) का जो अभाव पाया जाता है उसकी जवाबदेही भी मैं 'कलावाद' ही के सिर मढ़ना चाहता हूँ।

(६) समालोचना का हवाई होना और विचारशीलता का ह्रास।

इसके सम्बन्ध में भी पीछे बहुत कुछ कहा जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना है कि विचारशीलता के ह्रास से पुष्ट और समर्थ साहित्य का विकास रुक जायगा। भारतवर्ष का सम्पर्क संसार के और भागों से बढ़ रहा है। यदि हम में विवेक-बल रहेगा तो हम

चारों ओर से उपयोगी और पोषक सामग्री लेकर और पचाकर अपने साहित्य को पुष्ट और दृढ़ करेंगे। यदि यह विवेक-बल न रहेगा तो जैसे अनेक प्रकार के विदेशी रोगों ने आकर यहाँ अड्डा जमा लिया है, वैसे ही अनेक प्रकार की व्याधियाँ आकर हमारे साहित्य को ग्रस लेंगी और उसका स्वतन्त्र विकास रुक जायगा।

यहाँ तक तो 'कलावाद' और अभिव्यंजनावाद' के भले-बुरे प्रभाव का वर्णन हुआ। अब मैं अपने यहाँ की साहित्य-मीमांसा-पद्धति के सम्बन्ध में दो-चार बातें निवेदन कर देना चाहता हूँ। शब्द-शक्ति के प्रसंग में मैं कह आया हूँ कि इस पद्धति पर चलकर हम सारे संसार के नए-पुराने काव्य की बहुत ही स्पष्ट और स्वच्छ समीक्षा कर सकते हैं। मैं अब अधिक समय न लेकर रस, रीति और अलंकार के सम्बन्ध में कुछ अपने विचार प्रकट करूँगा।

पहले 'रस' लीजिए। इसका निरूपण बहुत ही व्यवस्थित रूप में हुआ है। स्थायी-संचारी का भेद बहुत ही मार्मिक और सूक्ष्म दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर हुआ है। क्योंकि कुछ भाव स्थायी कहे गए और कुछ संचारी? अच्छी तरह विचार करने पर भेद का आधार मिल जाता है। स्थायी वे ही भाव माने गए हैं जो संक्रामक हैं, जिनकी व्यंजना श्रोता या पाठक में भी उन्हीं भावों का संचार कर सकती है।

मनोविज्ञान में भावों की प्रधानता और स्थायित्व का जो विचार किया गया है वह दूसरी दृष्टि से। भावों के वर्गीकरण आदि की हमारे यहाँ बहुत अच्छी व्यवस्था हुई है। पर इसका मतलब यह नहीं कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई विचार-परम्परा द्वारा उसकी और उन्नति, परिष्कृति और संशोधन न हो। स्थायित्व की ही बात लीजिए। अच्छी तरह ध्यान देने पर यह पता चलेगा कि भाव की तीन दशाएँ होती हैं—क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील-दशा। किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति होती है, स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक ही आलम्बन के प्रति होती है और शील-दशा अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है।

क्षणिक दशा मुक्तक-रचनाओं में देखी जाती है; स्थायी दशा महाकाव्य, खंड-काव्य आदि प्रबन्धों में और शील-दशा पात्रों के चरित्र-चित्रण में। इतना मैंने केवल उदाहरण के लिए कहा है। साहित्य-क्षेत्र की इन सब बातों का विचार मैंने एक अलग ग्रंथ में किया है जो समय पर प्रकाशित होगा।

इसके अन्तर्गत हमारे यहाँ बड़े महत्त्व का सिद्धान्त 'साधारणीकरण' का है। 'साधारणीकरण' का सीधे शब्दों में अर्थ है श्रोता का भी उसी भाव में मग्न होना जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र (या कवि) व्यंजना कर रहा है। यह दशा तो रस की 'उत्तम दशा' है। पर रस की एक 'मध्यम दशा' भी होती है जिसमें पात्र द्वारा व्यंजित भाव में श्रोता का हृदय योग न देकर उस पात्र के ही प्रति किसी भाव का अनुभव करने लगता है। जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध, दीन और अनाथ पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या पाठक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जग सकता है। यह भी एक प्रकार की रसात्मक अनुभूति ही है, पर मध्यम कोटि की। अतः प्रकृति के वैचित्र्य-प्रदर्शन की दृष्टि से लिखे हुए पाश्चात्य नाटकों से इसी प्रकार की अनुभूति होती है। पर हमारे यहाँ के पुराने नाटकों में रस की प्रधानता रहने से 'साधारणीकरण' अधिक अपेक्षित होता है।

'चमत्कारवादियों' के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।

अब अलंकार लीजिए। अलंकारों में अधिकतर साम्यमूलक अलंकार ही अधिक चलते हैं। अतः इस साम्य के सम्बन्ध में थोड़ा विवेचन कर लेना चाहिए। हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार के माने गए हैं—सादृश्य (रूप की समानता), साधर्म्य (धर्म अर्थात् गुण-क्रिया आदि की समानता) तथा शब्द-साम्य (केवल शब्द या

नाम के आधार पर समानता)। इनमें से तीसरे को लेकर तमाशे खड़े करना तो केवल केशव ऐसे चमत्कारवादी कवियों का काम है। प्रथम दो के सम्बन्ध में ही कुछ निवेदन करने की आवश्यकता है। सादृश्य के सम्बन्ध में पहली बात ध्यान में रखने की यह है कि काव्य में उसकी योजना बोध या जानकारी कराने के लिए नहीं की जाती है, बल्कि सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता इत्यादि की भावना जगाने के लिए की जाती है। जैसे, किसी क्रुद्ध व्यक्ति की आँखों के सम्बन्ध में यही कहा जायगा कि 'वे अंगारे सी लाल हैं' यह नहीं कहा जायगा कि 'कमल के समान लाल हैं'।

इस बात का स्पष्ट शब्दों में निर्देश न होने से बहुत से कवियों ने केवल सादृश्य को—रूप-रंग की समानता को—पकड़कर सुन्दर वस्तुओं के कुछ भद्दे उपमान खड़े कर दिए हैं। जैसे, केवल पतलापन लेकर कटि की उपमा भिड़ की कमर या सिंहिनी की कमर से दे दी; यह न सोचा कि भिड़ की कमर का चित्र कल्पना में आने से किसी प्रकार की सौन्दर्य-भावना मन में न आएगी और सिंहिनी के सामने आ जाने पर तो जो कुछ सौन्दर्य-भावना पहले से जगी भी होगी वह भी भाग खड़ी होगी। तात्पर्य यह कि काव्य में जो अप्रस्तुत वस्तुएँ (उपमान) लाई जाती हैं वे यह देखकर कि उनके द्वारा प्रस्तुत के सम्बन्ध में सौन्दर्य-माधुर्य आदि की भावना में कुछ वृद्धि होगी। अतः प्रभाव-साम्य पहले देख लेना चाहिए।

बड़े हर्ष की बात है कि हिन्दी की वर्त्तमान नए ढंग की कविताओं में विशेषतः प्रभाव-साम्य पर ही दृष्टि रखी जाती है। सादृश्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी केवल प्रभाव-साम्य का हलका सा संकेत लेकर ही अप्रस्तुत की बेधड़क योजना कर दी जाती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

'पल्लव' से—

(१) इन्द्रधनु-सा आशा का सेतु; अनिल में अटका कभी अछोर।

(साम्य के आधार—विविधता, आधार की सूक्ष्मता)

(२) नवोढ़ा-बाल-लहर।

(साम्य का आधार—लज्जा से खिसकना या सुकड़ना)

(३) सिसकते हैं समुद्र से मन ।

(साम्य का आधार सिसकने का शब्द नहीं, सिसकने में छाती का नीचे ऊपर होना मात्र)

'आँसू' से—

(१) उनका सुख नाच रहा था,
दुख-द्रुमदल के हिलने से ।
शृंगार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से ।

(विरह-व्यथा का क्षोभ = द्रुमदल का हिलना)

अभिप्राय यह है कि प्रेमी जितना ही विकल होता है प्रेम-पात्र अपने सौन्दर्य का प्रभाव देख उतना ही प्रसन्न होता है । प्रेमी रोकर जितना ही आँसू गिराता है उतना ही मानों प्रेम-पात्र का सौन्दर्य धुलकर निखरता आता है अर्थात् लोगों की दृष्टि में उसकी सुन्दरता और भी अधिक दिखाई पड़ती जाती है ।

(२) जल उठा स्नेह-दीपक सा
नवनीत हृदय था मेरा ।
अब शेष धूमरेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा ।

(धूमरेखा = बातों की धुँधली स्मृति । अँधेरा = हृदय का अन्धकार या शून्यता ।)

अभिप्राय यह है कि प्रिय के न रहने पर हृदय अन्धकारमय या शून्य हो गया, उसके बीच केवल धुँधली पुरानी स्मृतियाँ इस प्रकार उठ उठकर घूम रही हैं जिस प्रकार दीपक बुझने पर धुँए की रेखा अँधेरे में उठ उठकर अनेक बल खाती घूमती है ।

प्रभाव और रमणीयता पर दृष्टि रखकर कुछ हमारे पुराने कवियों ने भी अत्यन्त मार्मिक और सुन्दर अप्रस्तुत-योजना की है, जैसे सूरदासजी ने इस पद में—

ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखि कै आनन्दी पिय जानि ।
सूर पवन मिस निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि ॥

थोड़े से से हेर-फेर के साथ यही भावना पन्तजी की इन पंक्तियों में है—

मिले थे दो मानस अज्ञात,
स्नेह-शशि बिम्बित था भरपूर।
अनिल सा कर अकरुण आघात,
प्रेम-प्रतिमा कर दी वह चूर॥

काव्य के वर्त्तमान समीक्षकों की दृष्टि में दबी हुई या प्रच्छन्न अप्रस्तुत-योजना, जिसे हमारे यहाँ व्यंग्य रूपक कहेंगे, बहुत उत्कृष्ट मानी जाती है; जैसी कि जायसी की इस उक्ति में है—

हीरा लेइ सो बिद्रुम धारा। बिहँसत जगत भएउ उजियारा॥

यह पद्मिनी के ओठों और दाँतों का वर्णन है, जिसमें अप्रस्तुत प्रभात का रूप बिल्कुल छिपा हुआ है। पद्मिनी के हँसने पर दाँतों की उज्ज्वल आभा अधरों की अरुण आभा लेकर जब फैलती है तब सारा संसार प्रकाशित या प्रफुल्ल हो जाता है—उसी प्रकार जैसे प्रभात-काल की श्वेत अरुण आभा फैलने से भूमंडल प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार वर्षा का व्यंग्य रूपक रूप पंतजी के इस पद्य में है—

जब निरस्त्र त्रिभुवन का यौवन
गिरकर प्रबल तृषा के भार,
रोमावलि की शरशय्या में
तड़प तड़प करता चीत्कार,
हरते हो तब तुम जग का दुख
बहा प्रेम-सुरसरि की धार।

अप्रस्तुत-विधान के नए ढंग का अच्छा निरूपण आज-कल के दो प्रतिनिधि कवियों की इन पंक्तियों से हो जाता है—

(क) सुरीले ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गाना;
विकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान। —पन्त

(इसमें कहा गया है कि उस बालिका का गान ही बाल्यावस्था और उसके भोले मन का उपमान बन जाता था अर्थात् वह गान स्वतः शैशव और उसकी उमंग ही था। इसमें उपमान-उपमेय के बीच व्यंग्य-व्यंजक भाव का ही सम्बन्ध है, रूप-साम्य कुछ भी नहीं।)

(ख) कामना कला की विकसी
कमनीय मूर्त्ति हो तेरी ;
खिंचती अब हृदय पटल पर
अभिलाषा बनकर मेरी। —प्रसाद

(कला सौन्दर्य का विधान करती है। स्वयं कला के मन में जो सौन्दर्य की भावना है वही मानो तेरे रूप से मूर्त्त होकर व्यक्त हुई है ; और इधर मेरे मन में उस रूपदर्शन का अभिलाष-रूप रमणीय भाव बनी है। इस प्रकार 'आश्रय' और 'आलम्बन' दोनों का विधान हो गया है। इसमें भी वही व्यंग्य-व्यंजक भाव का सम्बन्ध है।)

ये दोनों उक्तियाँ इस बात का पूरा संकेत करती हैं कि किस प्रकार अप्रस्तुत-विधान में व्यंजकता पर ही मुख्य दृष्टि रखी जाती है।

नए ढंग की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है लाक्षणिकता। कुछ वस्तुओं का प्रतीकवत् (Symbols) ग्रहण भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है। लक्षणा का पेट बहुत गहरा है। नए ढंग की कविताओं के भीतर यहाँ से वहाँ तक लक्षणाएँ भरी मिलेंगी—उपादान-लक्षणा भी, लक्षण-लक्षण भी ; जैसे—

(१) मर्म-पीड़ा के हास। (हास = पूर्ण विकसित या प्रवृद्ध रूप। पीड़ा और हास के विरोध के कारण 'विरोधाभास' का भी चमत्कार है।)

(२) चाँदनी का स्वभाव में भास।
विचारों में बच्चों की साँस।

(चाँदनी = स्वच्छता, शीतलता और मृदुलता। बच्चों की साँस = भोलापन)।

(३) स्नेह का वासन्ती संसार,
पुनः उच्छ्वासों का आकाश।

(वासन्ती संसार = संयोग की सुख-दशा। आकाश = शून्य जीवन। वसन्त

के पीछे ताप और बगोले से भरे ग्रीष्म का अप्रस्तुत रूप भी छिपा हुआ है।)

व्यंजना की इन पद्धतियों में कहीं कहीं अँगरेज़ी भाषा की शैली ज्यों की त्यों मिलती है, जैसे—'बच्चों के तुतले भय सी' (तुतले= तुतली बोली में व्यंजित)। इस प्रकार का अनुकरण मैं अच्छा नहीं समझता। कहीं कहीं इससे उक्ति बिल्कुल अजनबी हो जाती है, जैसे—'विचारों में बच्चों की साँस।' जो अँगरेज़ी के Innocent breath [इनॉसेंट ब्रेथ] से परिचित नहीं, वे इसे लेकर व्यर्थ हैरान होंगे। रचना करते समय इस बात का ध्यान पहले रहना चाहिए कि जो कुछ मैं लिख रहा हूँ हिन्दी-पढ़े लोगों के लिए लिख रहा हूँ, अँगरेज़ी-पढ़ लोगों के लिए नहीं। एक दिन मैंने देखा कि मेरे एक मित्र हिन्दी की एक मासिक पत्रिका लिए बैठे हैं। निकट आया, तब देखा कि उनके सामने एक कविता खुली है। उन्होंने मुझे देखते ही उसकी पहली ही पंक्ति पर उँगली रखकर कहा कि 'देखिए तो यह क्या है।' वह पंक्ति इस प्रकार थी—

मेरे जीवन के अंतिम पाहन।

मैंने कहा यह कुछ नहीं, अँगरेजी का 'Last milestone' [लास्ट माइलस्टोन] है।

अब 'रीति' की बात लीजिए। 'रीति' का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है। इसी दृष्टि से कोमल रसों में कोमल वर्णों और रौद्र, भयानक आदि उग्र और कठोर रसों में परुष और कर्कश वर्णों का प्रयोग अच्छा बताया गया है। पर इसका यह मतलब नहीं कि 'मंजु, मंजुल, प्रांजल' तथा 'उद्दंड, प्रचंड, मार्तंड' लिखकर ही काव्य की सिद्धि समझ ली जाय। इसका मतलब इतना ही है कि पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने के लिए काव्य बहुत कुछ संगीत-तत्त्व का भी सहारा लेता है। बहुत सी रचनाएँ तो केवल पद-लालित्य और छन्द की मधुरता के कारण ही लोकप्रिय हो जाती हैं। संस्कृत-साहित्य में रीति पर सबसे ज्यादा जोर देनेवाले वामन हुए हैं।

पर 'रीति' को बिल्कुल एक पुरानी बात समझकर टालना न चाहिए। अभी एक प्रकार का फरासीसी 'रीतिवाद' (French

Impressionism) बड़े ज़ोर-शोर से चला है, जिनमें शब्दों के अर्थों पर उतना ज़ोर न देकर उनकी नाद-शक्ति पर ही अधिक ध्यान देने का आग्रह किया गया है। इसका थोड़ा सा परिचय मैं आगे दूँगा।

शब्द-शक्ति, रस, रीति और अलंकार—अपने यहाँ की ये बातें काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांसा में कितने काम की हैं, मैं समझता हूँ, इसके सम्बन्ध में अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। देशी-विदेशी, नई-पुरानी सब प्रकार की कविताओं की समीक्षा का मार्ग इनका सहारा लेने से सुगम होगा। आवश्यकता इस बात की है कि उत्तरोत्तर नवीन विचार-परम्परा द्वारा इन पद्धतियों की परिष्कृति, उन्नति और समृद्धि होती रहे। पर यह हो कैसे? वर्तमान हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग तो ऐसे हैं जो लक्षणों की पुरानी लकीर से ज़रा भी इधर-उधर होने की कल्पना ही नहीं कर सकते। बेचारे नवीनतावादी अभी कलाबाज़ी कर रहे हैं, उन्हें विलायती समीक्षा-क्षेत्र के उड़ते हुए लटकों की उद्धरणी और योरप के ग्रन्थकारों की नाम-माला जपने से फ़ुरसत नहीं। अब रहे उच्च आधुनिक शिक्षा-प्राप्त 'संस्कृत स्कालर' नामक प्राणी। वे तो भारतीय वाङ्मय में जो कुछ हो चुका है उसी को संसार के सामने—संसार का अर्थ आजकल योरप और अमेरिका लिया जाता है—रखने में लगे हैं। यही उनका परम पुरुषार्थ है। उन्हें अपने साहित्य को और आगे बढ़ाकर उन्नत करने से क्या प्रयोजन?

यहाँ तक तो मैंने अपने यहाँ की काव्य-मीमांसा की पद्धति का, पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र के नाना वादों-प्रवादों से चली प्रवृत्तियों का तथा हिन्दी के आधुनिक साहित्य-क्षेत्र पर उन प्रवृत्तियों के भले-बुरे प्रभाव का वर्णन किया। पर ये प्रवृत्तियाँ पुरानी हैं—कुछ तो पचासों वर्ष; कुछ सैकड़ों वर्ष पुरानी। पर, जैसा कि मैं कई जगह कह चुका हूँ, योरप में साहित्य की प्रवृत्तियाँ तो इधर कपड़े के फैशन की तरह जल्दी जल्दी बदला करती हैं। वहाँ की इन पुरानी प्रवृत्तियों से गला छूटेगा

तो नई आकर दबाएँगी—चाहे कुछ दिनों पीछे, वहाँ पुरानी हो जाने पर। इससे पहले से सावधान रहना मैं अच्छा समझता हूँ।

योरप के वर्त्तमान साहित्य-क्षेत्र की सबसे नई घटना है 'बुद्धि के साथ युद्ध'। इस युद्ध के नायक हैं फ्रांस के अनातोले फ्रांस (Anatole France), जिन्होंने कहा है—"बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड़कर और सब कुछ सिद्ध हो सकता है। मनुष्य बुद्धि या तर्क के आदर्श पर कोई कर्म नहीं करता अपने प्रेम, घृणा, बैर, भय आदि मनोविकारों के आदेश पर ही सब कुछ करता है। बुद्धि पर उसे विश्वास नहीं होता। बुद्धि या तर्क का सहारा तो लोग अपनी भली-बुरी प्रवृत्तियों को ठीक प्रमाणित करने के लिए लेते हैं।" ईसा की १९वीं शताब्दी में जो आधिभौतिकवाद इतने ज़ोर-शोर से योरप में उठा था उसी से क्षुब्ध होकर प्रतिकार-स्वरूप वहाँ कई प्रकार के आन्दोलन चले। 'आध्यात्मिकता' जगी, मशीनों का विरोध शुरू हुआ, मनुष्य-मात्र के साथ भ्रातृभाव उमड़ा और अक़्ल पर चढ़ाई बोल दी गई। और क्षेत्रों में क्या हुआ, इससे तो यहाँ प्रयोजन नहीं। साहित्य के क्षेत्र में जो हुआ या हो रहा है उसी की ओर थोड़ा ध्यान देने की जरूरत है।

कुछ लोगों को एकबारगी यह भासित होने लगा कि अब जो अच्छे अच्छे काव्य नहीं बनते हैं उसका एकमात्र कारण है बुद्धि। बुद्धि इतनी अधिक बढ़ गई है कि उसने प्रतिभा और भावना के वे सब रास्ते ही रोक दिए हैं जिनसे कविता का स्रोत बहा करता था। यह दशा देख कुछ लोग तो हाथ पर हाथ रखकर, निराश होकर, बैठ रहे और यह समझ लिया कि अब कविता-देवी का भोलापन सब दिन के लिए गया। अब इस युग में मनुष्य-जाति की अन्तर्वृत्ति बुद्धि से इतनी जकड़ उठी है कि कविता का पुनरुद्धार असम्भव है। इन्हीं नैराश्यवादियों में अनातोले फ्रांस हैं। वर्त्तमान अँगरेज़ी साहित्य-क्षेत्र में उनके नैराश्य में योग देनेवाले हैं मि० हाउसमन (Housman) और एलियट (T. S. Eliot)। ये लोग केवल समय समय पर अपनी कुढ़न और बौखलाहट भर प्रकट कर देते हैं।

पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो एकबारगी निराश नहीं हैं। वे बुद्धि के पीछे डंडा लेकर खड़े हो गए हैं। वे भावना के खोए हुए भोलेपन को लौटा लाने की कुछ आशा रखते हैं। वे समझते हैं कि बुद्धि द्वारा फैलाए हुए जाल को छिन्न-भिन्न करके वे भावना के स्वतन्त्र विचरण के लिए फिर मैदान निकाल लेंगे। इनमें से कुछ लोग तो बड़ी मिहनत से तरह तरह के प्राचीन चित्र और जंगली जातियों की चित्रकारियाँ इकट्ठी कर रहे हैं कि शायद कला का रहस्य कुछ मिल जाय। इन चित्रों के रंग और रेखाएँ भद्दी भी होती हैं तो विचित्र विचित्र सिद्धान्तों की उद्भावना करके समझाया जाता है कि वे इस सिद्धान्त पर हैं उस सिद्धान्त पर हैं। बुद्धिग्रस्त होने के कारण हम उनके सौन्दर्य की अनुभूति तक नहीं पहुँच पाते हैं। इंगलैंड के प्रसिद्ध लेखक और नाटककार बरनर्ड शा (Bernard Shaw) भी सुधार की आशा रखनेवाले बुद्धि-विरोधियों में हैं। उनका कहना है कि बुद्धि उत्पादिका या क्रियात्मिका नहीं, केवल निश्चयात्मिका है। उससे हमारा उद्धार नहीं हो सकता। हमें क्रियात्मिका वृत्ति का सहारा लेना चाहिए, नहीं तो हम गए, सब दिन के लिए।

काव्य के क्षेत्र से बुद्धि को एकबारगी निकाल बाहर करने पर सबसे मुस्तैद दिखाई पड़ते हैं कमिंग्ज़ साहब (E. E. Cummings) जो अमेरिका के एक कवि हैं। इन्होंने बुद्धि का पूरा विरोध प्रदर्शित करने के लिए अपनी एक पुस्तक का नाम रखा है 'पाँच होता है'—अर्थात् दो और दो चार नहीं, पाँच होता है। इस सम्बन्ध में एक बड़ा ही मनोरंजक निबन्ध 'कविता का खोया हुआ भोलापन' (The Lost Innocence of Poetry) कलिफोर्नियाँ विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग के अध्यापकों के लिखे निबन्धों के सन् १९२९ के संग्रह में है।*

* Essays in Criticism (by members of the Department of English, University of California 1929).

आजकल कहीं कहीं समीक्षाओं के भीतर जो यह लिखा देखने को मिलता है कि 'यह तो बुद्धिवाद है, यह तो बुद्धित्व है' वह किस दिशा से उड़कर आया हुआ वाक्य है, इसका कुछ पता उपर्युक्त विवरण से लग सकता है। पश्चिम में काव्य की भावना में बुद्धि क्यों इतनी बाधक दिखाई दे रही है, उसका कारण प्रत्यक्ष है। उसका कारण है काव्य के सम्बन्ध में यह संकुचित और बालोचित धारणा कि उसकी अनुभूति 'विस्मय' और 'कुतूहल' के रूप में होती है। 'विस्मय' और 'कुतूहल' बालकों और जंगली जातियों का लक्षण अवश्य है। पर बहुत निम्न कोटि की काव्यानुभूति 'कुतूहल' और 'विस्मय' के रूप में होती है, यह मैं अच्छी तरह दिखा चुका हूँ।

(अब वर्त्तमान योरपीय काव्य-क्षेत्र की दो-चार और प्रवृत्तियों का उल्लेख करके मैं अपने भाषण को समाप्त करना चाहता हूँ।)

इधर हाल में इंगलैंड के काव्य-क्षेत्र में गत महायुद्ध के दो चार वर्ष पहले से 'प्रकृति की ओर फिर लौटने' के लक्षण कवियों ने दिखाए। रूपर्ट ब्रुक (Rupert Brooke), जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है, इसी पक्ष के अनुयायी थे। वे बड़ी ही सच्ची भावना के कवि थे। प्रकृति के चिरपरिचित सादे और सामान्य माधुर्य ने उनके मन में घर कर लिया था। रूपों की चमक-दमक, तड़क-भड़क, भव्यता-विशालता की ओर जिस प्रकार उनका मन नहीं लगता था उसी प्रकार वचन-वक्रता, भाषा की उछल-कूद, कल्पना की उड़ान की ओर भी उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। हेरल्ड मुनरो (Harold Monro) आदि कई एक इस पक्ष के अनुयायी कवि अभी वर्त्तमान हैं। जीवन की सामान्य और घरेलू वस्तुओं को ये लोग बड़े प्यार की दृष्टि से देखते हैं।

एक दूसरे सिद्धान्त के प्रवर्त्तक फ्लिंट (F. S. Flint) हैं जिनकी 'तारक-जाल में' नाम की पुस्तक सन् १६०६ में प्रकाशित हुई थी। उनका सिद्धान्त है कि कविता में जो बात कही जाय वह सब इस रूप में हो कि उसकी मूर्त्त भावना हो सके। इसी लिए इस सिद्धान्त को लोग 'मूर्त्तविधानवाद' (Imagism) कहने लगे। इसके अनुयायी काव्य में

भाव-वाचक शब्द रखने के विरोधी हैं। विचारात्मक तथा लंबी कविताएँ भी ये लोग अच्छी नहीं समझते।

पहले एक प्रकार के 'रीतिवाद' का उल्लेख हो चुका है जो फ्रांस से 'संवेदनावाद' (Impressionism) के नाम से चला है। उसके अनुयायी कविता को संगीत के और निकट लाना चाहते हैं। ये लोग शब्दों के प्रयोग में उनके अर्थों पर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं समझते जितना उनकी नाद-शक्ति पर। जैसे, यदि मधुमक्खियों के धावे का वर्णन होगा तो 'भिन भिन' 'मिन मिन' ऐसी ध्वनिवाले; हवा के बहने और पत्तों के बीच घुसने का वर्णन होगा तो 'सर सर' 'मर्मर' ऐसी ध्वनिवाले शब्द इकट्ठे किए जायँगे। तुलसीदासजी की चौपाई का यह चरण इसका उदाहरण होगा—

कंकन, किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।

इसमें 'झनकार' की संवेदना का अनुभव सुनने मात्र से हो जाता है। वीररस की कविताओं में पाए जानेवाले 'चटाक-पटाक' 'कड़क-धड़क' आदि शब्दों तथा अमृतध्वनि छन्द से तो हिन्दी-पाठक भी पूरे परिचित होंगे। सूदन कवि की ये पंक्तियाँ ही देखिए—

धड्धद्धरं धड्धद्धरं भड्भब्भरं भड्भब्भरं।
तड़तत्तरं तड़तत्तरं, कड़क्कक्करं कड़क्कक्करं॥

'संवेदनावाद' और 'मूर्त्तविधानवाद' दोनों को मिलाकर सबसे विलक्षण तमाशा पूर्वोक्त कमिंग्ज साहब (E. E. Cummings) ने खड़ा किया है। उन्होंने पदभंग, पदलोप, वाक्यलोप तथा अक्षरविन्यास, चरण-विन्यास इत्यादि के न जाने कितने नए नए करतब दिखाए हैं, जैसे—

सि-पाही स् (ी) टी-देता है।

उनकी रचना का ढंग दिखाने के लिए उनकी एक कविता, थोड़े से आवश्यक हेर-फेर के साथ, नीचे देता हूँ। यद्यपि इसकी विचित्रताएँ बहुत कुछ अँगरेजी भाषा और उसके छन्दों की मात्रा आदि से सम्बन्ध

रखती हैं और हिन्दी में नहीं दिखाई जा सकतीं, फिर भी कुछ अंदाजा रूप-रंग का हो जायगा। कविता यह है—

सूर्यास्त

सं—दंश
स्वर्ण 'गुन्' जाल
सिखर पर
रजत
पाठ करता है
बड़े बड़े घंटे बजते हैं गेरू से
मोटे निठल्ले नगाड़े
और एक उत्तुंग
पवन
खींचता है
सागर
को
स्वप्न
से

यह समुद्र के किनारे सूर्यास्त का वर्णन है जिसका विषय यह है। समुद्र की खारी हवा काटती सी है। डूबते सूर्य की किरणें ऊँची उठी तरंग की श्वेत फेनिल चोटी पर पड़कर पीली मधुमक्खियों के फैले हुए झुंड सी लगती हैं। वह ऊपर उठी लहर देवमन्दिर के मंडप सी जान पड़ती है, जिसके भीतर पाठ होता है, बड़े बड़े घंटे बजते हैं, गेरू से पुते दरवाजे होते हैं, नगाड़े बजते हैं, बड़ी तोंदवाले मोटे निठल्ले पुजारी बैठे रहते हैं। हवा समुद्र के जल को वैसे ही खींचती जान पड़ती है जैसे मछुआ जाल खींचता हो। सूर्यास्त हो जाता है। धुँधलापन, फिर अन्धकार हो जाता है; लोग सोते हैं।

अब किस ढंग से इन सब बातों की संवेदना उत्पन्न करने के लिए पदविन्यास किया गया है, थोड़ा यह देखिए। 'सं' से सनसनाहट अर्थात्

हवा चलने की और 'दंश' से चमड़ा फटने, पानी की ठंडक और मधु-मक्खी के डंक मारने की संवेदना उत्पन्न की गई है। 'स्वर्ण' से सूर्य की किरणों और मधु-मक्खियों के पीले रंग का आभास दिया गया है। 'गुन्' से गुनगुनाहट और गुंजार का संकेत किया गया है, जो 'दंश' के साथ मिलकर मधुमक्खियों की भावना उत्पन्न करता है। 'जाल' झुंड का द्योतक है। 'पाठ', 'घंटे' और 'नगाड़े' को मिलाकर, मन्दिरों में होनेवाले शब्द तथा समुद्र के गर्जन और छींटों के कलकल का आभास दिया गया है। लटके हुए 'घंटे की मूर्त्त भावना में लहरों के नीचे-ऊपर झूलने का भी संकेत है। 'गेरू' में संध्या की ललाई झलकाई गई है। 'नगाड़े' में निकली हुई तोंद का भी संकेत है। रचना के प्रथम खंड में 'सूर्य' और 'समुद्र' शब्द नहीं रखे गए हैं। 'स्वर्ण' में तपे सोने के ताप और दमक की भावना रखकर सूर्य का, और 'रजत' में शीतलता और स्वच्छता की भावना रखकर जलराशि वा समुद्र का संकेत फिर कर दिया गया है (बड़ी कृपा!) इसमें 'स' के अनुप्रास से भी सहायता ली गई है। यह अनुप्रास पहले खंड में 'स' अक्षर से आरम्भ होनेवाले 'सूर्य' और 'समुद्र'—इन दो शब्दों की ओर भी इशारा करता है।

कमिंग्ज साहब की समझ में यह विषय को ठीक वैसे ही सामने रखना है जैसे संवेदना उत्पन्न होती है। इसमें ऐसे शब्द नहीं हैं जो अर्थ-सम्बन्ध मिलाने के लिए, या व्याकरण के अनुसार वाक्यविन्यास के लिए लाए जाते हैं, पर संवेदना उत्पन्न करने में काम नहीं देते (जैसे, 'और', 'किन्तु', 'फिर' इत्यादि)। उनके अनुसार यह खालिस कविता है, जिसमें से भाषा, व्याकरण, तात्पर्य-बोध आदि का अनुरोध पूरा करनेवाले फालतू शब्द निकाल दिए गए हैं।

थोड़ा सोचिए कि कमिंग्ज के इस विचित्र विधान के मूल में क्या है। काव्यदृष्टि की परिमिति और प्रतिभा के अनवकाश के बीच नवीनता के लिए नैराश्यपूर्ण आकुलता। 'सूर्योदय', 'सूर्यास्त' आदि बहुत पुराने विषय हैं जिन पर न जाने कितने कवि अच्छी से अच्छी कविता कर गए हैं। अब इन्हीं को लेकर जो विलक्षणता और नवीनता दिखाना

चाहेगा वह मार्मिक दृष्टि के प्रसार के अभाव में सिवा इसके कि नए नए वादों का अन्ध अनुसरण करे, शब्दों की कलाबाजी दिखाए, पहेली खड़ी करे, और करेगा क्या ? *

(काव्य और समालोचना के विवेचन में, मैं समझता हूँ, मैंने बहुत अधिक समय ले लिया—इतना अधिक कि अब साहित्य के और अंगों के सम्बन्ध में केवल दो ही बातें ही कही जा सकती हैं।)

नाटक—

साहित्य का एक बड़ा आवश्यक अंग 'दृश्य-काव्य' है जिसके अनेक भेद हमारे यहाँ किए गए हैं। रचना की प्रक्रिया का भी बड़ा प्रकांड,

---

* अंगरेजी में यह कविता इस रूप में लिखी गई है—

SUNSET

Stinging
gold swarms
upon the spires
silver
        chants the litanies the
great bells are ringing with rose
the lewd fat bells
                and a tall
wind
is dragging
the
sea
with
dream
—s

कौशलपूर्ण और जटिल निरूपण है। हमारे साहित्य में रूपक या नाटक भी काव्य ही हैं, अतः रस ही पर दृष्टि उनमें भी रखी गई है। पाश्चात्य नाटकों में अन्तःप्रकृति के वैचित्र्य-प्रदर्शन पर विशेष दृष्टि रखी जाती है। हिन्दी में नाटकों का जिस रूप में विकास हुआ, उनमें दोनों दृष्टियों का मेल है। यह बात बहुत अच्छी हुई है। भारतेन्दु-काल में जिन नाटकों की रचना हुई उनमें अन्तःप्रकृति के वैचित्र्य का विधान नहीं के बराबर है। पर इधर जो नाटक लिखे जा रहे हैं उनमें यह विधान भी आ रहा है।

पाश्चात्य नाटकों की प्रवृत्ति इधर एकदम 'वास्तविकता' की ओर हो रही है। नाटक से काव्यत्व और भावात्मकता दूर करने का प्रयास हो रहा है। पुराने साम्यवादी होने के कारण बर्नर्ड शा ने मनुष्य-समाज की व्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर वर्त्तमान परिस्थितियों का बहुत सटीक प्रत्यक्षीकरण किया है। एक अंकवाले नाटकों का चलन भी वहाँ हो रहा है। हमारी हिन्दी में भी इस प्रकार के नाटकों के ऊपरी ढाँचे लेकर दो-एक सज्जन 'नवीनता के आन्दोलन' में अपना योग प्रदर्शित कर रहे हैं।

मेरा नम्र निवेदन यह है कि पश्चिम में चाहे जो हो रहा हो, हमें अपने दृश्य-साहित्य को एकदम मँगनी की वस्तु बनाने की आवश्यकता नहीं। जिस देश में दृश्य-काव्य का आविर्भाव अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ हो उसके भीतर उसका स्वतन्त्र रूप में नूतन विकास न हो सके, यह खेद की बात होगी। यह देखकर मुझे अत्यन्त आनन्द होता है कि 'प्रसाद' जी के नाटकों में इस प्रकार के विकास के पूरे लक्षण मिलते हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में सबसे बड़ी विशेषता है प्राचीन काल के रीति-व्यवहार, शिष्टाचार, शासन-व्यवस्था आदि का ठीक इतिहास-सम्मत चित्रण। वस्तु-विन्यास और शील-निरूपण का कौशल भी उत्कृष्ट कोटि का है। उनके रचे 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों को लेकर आज हिन्दी पूरा गर्व कर सकती है। मेरे देखने में अच्छे सामाजिक नाटकों का अभाव अभी बना है। इसके

लिए 'प्रसाद' जी से न कहूँगा। जिस ऐतिहासिक क्षेत्र को उन्होंने लिया है उसी के भीतर उन्हें अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास करना चाहिए। 'वरमाला' के लेखक श्री गोविन्दवल्लभ पन्त भी अच्छे नाटककार हैं। स्वर्गीय पं० बदरीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' में अभिनय की विनोदपूर्ण सामग्री है।

इधर हाल में पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने 'ज्योत्स्ना' लिखकर 'कल्पना-जगत्' को प्रत्यक्ष रूप में लाने का अच्छा आयोजन किया है। पर ऐसे नाटक शुद्ध नाटक की कोटि में न आकर, काव्य की कोटि में ही अपना स्थान रखते हैं। शेली ने भी पृथिवी, पवन इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों को लेकर इस ढंग के दो-एक नाटक लिखे थे, जिनके अभि-नय का ख्याल किसी ने कभी नहीं किया।

हर्ष की बात है कि पारसी ढंग की थिएटर-कंपनियों ने भी अब हिन्दी में लिखे नाटकों का अभिनय आरम्भ कर दिया है। इसके लिए सबसे पहले साधुवाद के पात्र हैं पं० नारायणप्रसाद बेताब। उनके अतिरिक्त आगा हशर साहब, मोहम्मद इसहाक साहब (शबाब), बाबू आनन्दप्रसाद कपूर, बा० शिवप्रसाद गुप्त तथा व्याकुलजी ने भी थिएटरों में खेले जाने के लिए कई नाटक लिखे हैं।

उपन्यास—

हमारे यहाँ के 'कादम्बरी', 'दशकुमार-चरित' आदि पुराने कथा-त्मक गद्यप्रबन्ध गद्य-काव्य के रूप में ही मिलते हैं। उनकी रचना अत्यन्त अलंकृत और रसात्मक है। हमारे आधुनिक हिन्दी-साहित्य में 'उपन्यास' का नाम भी बँगला से आया और उपन्यास का अँगरेजी ढाँचा भी। कथात्मक गद्य-प्रबन्ध के लिए वास्तव में यह ढाँचा बहुत ही उत्कृष्ट है। उपन्यास के दो तरह के ढाँचे मिलते हैं—पुराने और नए। पुराने ढाँचे में काव्यत्व की मात्रा यथेष्ट रहती थी। परिच्छेदों के आरम्भ में अच्छे अलंकृत दृश्य-वर्णन होते थे और पात्रों की बात-चीत भी कहीं कहीं रसात्मक होती थी। बँगला में जिस समय उपन्यास आए उस समय योरप में पुराना ढाँचा ही प्रचलित था, जिसे बहुत ही

सुन्दर ढंग से बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त आदि ने भारतीय साहित्य में लिया—ऐसे सुन्दर ढंग से कि यह जान ही न पड़ा कि वह कहीं बाहर से आया है। भारतेन्दु-काल से लेकर प्रेमचन्दजी के पहले तक हिन्दी में भी उपन्यास इसी ढाँचे पर लिखे जाते रहे।

पीछे योरप में 'नाटक' और 'उपन्यास' दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति हुई और दृश्य-वर्णन, भावव्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि हटाए जाने लगे। इस नए ढाँचे के उपन्यास, जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, प्रेमचन्दजी के समय से हिन्दी में आने लगे। वर्त्तमान सामाजिक जीवन के विविध पक्षों और अंतर्वृत्तियों की बड़ी पैनी परख प्रेमचन्दजी को मिली है। उन्होंने हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र को जगमगा दिया। वे हमारे गर्व और गौरव के कारण हैं। सामाजिक उपन्यास हिन्दी में अच्छे लिखे जा रहे हैं। पर मेरा एक निवेदन है। इधर बहुत से उपन्यासों में देश की सामान्य जीवन-पद्धति को छोड़ बिल्कुल योरपीय सभ्यता के साँचे में ढले हुए छोटे से समुदाय के जीवन का चित्रण बहुत अधिक पाया जाता है। सिस्टर, मिसेज, मिस ड्राइंगरूम, टेनिस, मोटर पर हवा-खोरी, सिनेमा इत्यादि ही उपन्यासों में अधिक दिखाई पड़ने लगे हैं। मैं मानता हूँ कि आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष है, पर सामान्य पक्ष नहीं। देश के असली, सामाजिक और गार्हस्थ्य जीवन के जैसे चित्र पुराने उपन्यासों में रहते थे वैसे अब कम होते जा रहे हैं। यह मैं अच्छा नहीं समझता।

उपन्यास के पुराने ढाँचे के सम्बन्ध में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमें हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबन्धों के स्वरूप का भी आभास रहता था।

मनुष्य के दोषों और पापों को उदार दृष्टि से देखना, सत्पथ से भटके हुए लोगों के प्रति घृणा का भाव न उत्पन्न करके दया का भाव उत्पन्न करना और जीवन की कठोर वास्तविक परिस्थितियों के बीच उदात्त और कोमल भावों का स्फुरण दिखाना आधुनिक उपन्यासों का आदर्श माना जाता है।

उपन्यासकारों में इधर प्रेमचन्दजी के अतिरिक्त पं० विश्वम्भरनाथ कौशिक, श्रीसुदर्शन, बा० वृन्दावनलाल वर्मा, बा० प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्रीयुत जैनेन्द्रकुमार आदि महानुभाव बहुत अच्छा कार्य कर रहे हैं।

मेरे देखने में उत्कृष्ट कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव ज्यों का त्यों बना है। यदि जयशंकर 'प्रसाद' जी इस ओर भी ध्यान दें तो इस अभाव की पूर्त्ति बहुत अच्छी तरह हो सकती है। मैं तो अपनी ओर से यही कहूँगा कि सामाजिक उपन्यास का क्षेत्र तो वे प्रेमचन्दजी ऐसे लोगों के लिए छोड़ दें जो ऐतिहासिक नाटकों की रचना को 'गड़े हुए मुर्दे उखाड़ना' कहते हैं और स्वयं इतिहास के प्राचीन क्षेत्र में स्वच्छन्द क्रीड़ा करनेवाली अपनी प्रतिभा को ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर प्रवृत्त करें।

इधर योरप में छोटी कहानियों का बहुत अधिक प्रचार हुआ। ये होती भी हैं अत्यन्त मार्मिक। यह कम हर्ष की बात नहीं है कि हमारी हिन्दी में भी इनका अच्छा विकास हुआ। मेरे देखने में कहानियों के तीन रूप हिन्दी में दिखाई पड़ रहे हैं—(१) योरपीय आदर्श पर सादे ढंग से केवल कुछ घटनाएँ और बातचीत सामने रख वाला—जिसका नमूना है स्वर्गीय गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था'। (२) कुछ अलंकृत दृश्य-चित्रयुक्त—यह रूप 'हृदयेश' जी की कहानियों में मिलता है। (३) कल्पनात्मक और भावात्मक—यह रूप 'प्रसाद' जी और राय कृष्णदासजी की कहानियों में मिलेगा।

प्रेमचन्दजी ने भी बड़ी सुन्दर छोटी कहानियाँ लिखी हैं। कहानियों के क्षेत्र में श्री पं० ज्वालादत्त शर्मा, पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह, श्रीचतुरसेन शास्त्री, श्रीयुत गोविन्दवल्लभ पन्त, बा० शिवपूजन सहाय, पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्रीबालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीयुत जैनेंद्रकुमार विशेष उल्लेख-योग्य हैं।

हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले पहले तो श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव ही थे; अब बा० अन्नपूर्णानन्दजी शिष्ट हास का बहुत अच्छा नमूना सामने ला रहे हैं।

हास्यरस के सम्बन्ध में पश्चिम में इस बात का भी निरूपण हुआ है कि हास्य के आलम्बन से विनोद तो होता ही है, पर उसके प्रति कोई और भाव भी—जैसे, घृणा, विरक्ति, उपेक्षा, दया—रहता है। अब तक यही विवेचित हुआ था कि उत्कृष्ट हास्यरस में आलम्बन के प्रति प्रेमभाव होता है, अर्थात् वह प्रिय लगता है। पर अब यह कहा जाने लगा है कि उसके प्रति दया का भाव होना चाहिए, और वह दया ऐसी हो जिस के पात्र, हम अपने को भी समझें—अर्थात् जिस स्थिति में आलम्बन को देख हम हँसे उसमें हम भी हों।

गद्य-काव्य—

जब से श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की बहुत ख्याति हुई तब से हिन्दी में नए ढंग के गद्यकाव्य बहुत दिखाई पड़ने लगे। श्रीयुत रायकृष्णदासजी की 'साधना', वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद' आदि कई प्रसिद्ध पुस्तकों के अतिरिक्त आज-कल मासिक पत्रिकाओं में भी समय समय पर अनेक रूप-रंग के भावात्मक गद्य-प्रबन्ध निकला करते हैं। साहित्य में इस प्रकार के गद्य-प्रबन्धों का भी एक विशिष्ट स्थान है। पर इनकी भरमार मैं अच्छा नहीं समझता। यदि इसी प्रकार के गद्य की ओर ही लोगों का ध्यान रहेगा, तो प्रकृत गद्य का विकास रुक जायगा और भाषा की शक्ति की वृद्धि में बहुत बाधा पड़ेगी। वर्त्तमान उर्दू-साहित्य के क्षेत्र में भी इस प्रकार के भावात्मक गद्य की प्रवृत्ति देख उर्दू-साहित्य के इतिहास-लेखक श्रीयुत रामबाबू सकसेना बहुत घबराए हैं।

निबन्ध—

ऐसे प्रकृत निबन्ध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिन्दी में अभी कम देखने में आ रहे हैं। आशा है इस अंग की पूर्ति की ओर भी हमारे सहयोगी साहित्य-सेवियों का ध्यान जायगा।

भाषा—

साहित्य के नाना अंगों का विशद रूप में निर्माण देख जितना आनन्द होता है उतना ही भाषा की ओर असावधानी देख खेद होता है। मासिक पत्रिकाओं में बहुत से लेखों को उठाकर देखिए तो उनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भरी मिलेंगी। हमारे सुयोग्य सम्पादकगण यदि इस ओर ध्यान दें तो मुझे विश्वास है कि यह बुराई दूर हो सकती है। खैर, यह बुराई तो दूर हो जायगी। पर हमारी भाषा का स्वरूप ही विकृत करनेवाली एक प्रवृत्ति बहुत भयंकर रूप में बढ़ रही है—वह है अंगरेजी के चलते वाक्यों और मुहावरों को शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद करके रखना। 'दृष्टिकोण,' 'प्रकाश डालना' आदि तक तो खैरियत थी, पर जब उपन्यासों में इस तरह के वाक्य भरे जाने लगेंगे जैसे—

(१) उसके हृदय में अवश्य ही एक ललित कोना होगा जहाँ रतन ने स्थान पा लिया होगा।

(२) वह उन लोगों में से न था जो घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों।

तब हमारी भाषा अपना कहाँ ठिकाना ढूँढ़ेगी ?

आजकल कभी कभी हिन्दी-हिन्दुस्तानी का झगड़ा भी उठा करता है। हमारे साहित्य की भाषा का स्वरूप क्या होना चाहिए यह पचासों वर्ष पहले स्थिर हो चुका। उसमें फेरफार करने की कोई आवश्यकता नहीं। अपने साहित्य की भाषा का स्वरूप हम वही रख सकते हैं जो बराबर से चला आ रहा है तथा जो उत्तरीय भारत के और भूखंडों के साहित्य की भाषा के स्वरूप के मेल में होगा। हिन्दी-हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में प्रो० धीरेन्द्र वर्मा ने अकेडमी की 'तिमाही पत्रिका' में जो कुछ लिखा था उसे मैं खासा स्पष्टवाद समझता हूँ।

(अब मैं आप महानुभावों का बहुत अधिक समय ले चुका। इस स्थान पर एक प्रकार से आप लोगों के धैर्य की पूरी परीक्षा हो गई। मेरी निस्सार और

रूखी-सूखी बातों को इतनी देर बैठकर सुनना, अनुग्रह के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? आज अपने वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य के प्रशस्त प्रसार को देख मुझे उन दिनों का स्मरण हो रहा है जब थोड़े से लोग किसी भव्य भविष्य की आशा बाँधे हिन्दी की सेवा कर रहे थे। आज अपने को इतने बड़े और प्रभावशाली विद्वन्मंडल के सामने खड़ा पाकर मुझे तो ऐसा भासित हो रहा है कि वह भव्य भविष्य यही था। मेरी पुरानी कामनाएँ तो आज पूर्ण हो गईं। पर जीवनक्षेत्र में कामनाओं का अन्त नहीं। एक पूरी हुई, फिर दूसरी। जिन आँखों से मैंने इतना देखा उन्हीं से अब अपने हिन्दी-साहित्य को विश्व की नित्य और अखंड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य और मंगल का प्रभूत सञ्चय करके एक स्वतन्त्र 'नव निधि' के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ। अपनी इस कामना को आप महानुभावों के सम्मुख प्रकट करके अब मैं क्षमा माँगता और धन्यवाद देता हुआ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।)

अच्युत मुद्रणालय, ललिताघाट, काशी।

नामानुक्रमणी